निर्देशक ही आन्तरिक रूप से तैयार करता है । राकेश के नाटक निर्देशक के व्यक्तित्व को पूर्णतः प्रकाशित और स्थापित करते हैं ।

नाटक एक सामाजिक क्रियाशील कला है जो दर्शक से सीधे जुड़ती है । दर्शक के लिए ही रंगमंच, रंगबोध, रंग शिल्प की पूरी कल्पना हुई है । दर्शक नाटक के उसकी प्रस्तुति के निर्देशक और अभिनेता की कला के असली और सही निर्णायक है । नाट्य-समीक्षक को भी दर्शक-दृष्टि से ही नाटककृति को परखना होगा । दर्शक कोई अकेला व्यक्ति नहीं है, रंगभवन में वह पूरा एक समुदाय है छोटा भी, बड़ा भी । यही नहीं वह एक खुला मानव समुदाय है - विभिन्न श्रेणियों, वर्गों के लोग, अलग-अलग आयु के लोग बूढ़े भी युवक भी, बच्चे भी, स्त्रियाँ भी, अलग-अलग संस्कार के विचारों के शिक्षित भी अशिक्षित भी, संस्कृति प्रेमी भी, मॉडर्न सभ्यता के प्रचारक भी । किसी भी नाटक का दर्शक एकदम शहरी भी हो सकता है, ग्रामीण भी । जाहिर है कि ग्रामीण दर्शक-वर्ग भिन्न प्रकार के नाटकों-लोकनाटकों लोकशैलियों-पद्धतियों के अभ्यस्त ही नहीं होगा, भाषा, अभिव्यक्ति, कथ्य और प्रस्तुति सभी दृष्टियों से उसकी अपेक्षाएँ कुछ और होंगी और शहरी दर्शक की बिलकुल अलग क्योंकि वह 'नवीनता', विविधता, प्रयोगात्मकता चाहता है । यही बहुत बड़ा संकट है एक साथ दोनों को संतुष्ट करना । पूर्वाग्रह दोनों में है । नाटक को उन्हें झेलना है । इसलिए भारतीय संदर्भ में ही यह प्रश्न बहुत बड़ा है । पश्चिम में प्रचलित जीवन और शिक्षा के कारण और नाटक की एक लम्बी परम्परा होने के कारण यह समस्या उतनी बड़ी नहीं है भारतवर्ष में है; विशेषकर उत्तर प्रदेश में, जो परम्पराओं और आलस्य में डूबा हुआ है । इसीलिए नाटक में लोकप्रवृत्ति की बात ही ज्यादा संगत है । मोहन राकेश के नाटक निस्संदेह खुले दर्शक समूह के लिए नहीं है अगर हैं तो तभी जब अपने यहाँ दर्शक नाटक देखने रंगशाला में प्रवेश कर बैठने का उतना अभ्यस्त हो चुका हो । हर स्थान पर एक ही नाटक के संबंध में दर्शक के निर्णय अलग-अलग होंगे । और यह भी सही है कि दर्शक की रूचि से ही 'ओह अमेरिका' जैसा लचर, सतही नाटक भी लोकप्रियता की सीढ़ी पर पहुँच जाता है और थोड़ी महत्त्वपूर्ण कृति सर्वथा असफल करार दे दी जाती है । यद्यपि 'आषाढ़ का एक दिन' 'लहरों के राजहंस' में कुछ ऐसे आकर्षक तत्त्व अवश्य हैं जो हर तरह के दर्शक को आकर्षित कर सकते हैं लेकिन अपने पूरे रचाव में वे विशिष्ट हैं । उनमें उल्लेखनीय बात केवल यह है कि नाटकों द्वारा दर्शक दृष्टि, रंगमंच परिवर्तन में उनका विश्वास था और भारतीय रंगमंच की खोज ही उनके सामने थी । पश्चिमी नाटक और रंगमंच पर प्रयोग का उन्होंने हमेशा विरोध किया । यह भारतीयता ही दर्शकों को छूती है । यद्यपि अभी नाटक का कोई अलग दर्शक-वर्ग नहीं बना है । बना भी है तो बड़े नगरों में - दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई । महानगरों के इन दर्शकों की भी एक बनी-बनायी सूची है यानी नियमित दर्शक ! लेकिन अधिकांश स्थलों पर नाटक का दर्शक 'फिल्मी' दर्शक रहा है - फिल्म के ग्लैमर, दृश्यों, कास्ट्यूम्स, मारपीट, मेलोड्रामा, घटनाजाल का आकांक्षी । लेकिन अब मनोवृत्ति बदल रही है । दर्शक समूह (भले ही छोटा सही) जहाँ 'फिर भी' या 'सारा आकाश' जैसे फिल्मों को सराहता है वहाँ 'आधे अधूरे' 'बाकी इतिहास' और 'एवम् इन्द्रजित' जैसे नाटकों को भी । एक कारण यह है कि नाटक में सशरीरी स्थिति है जो फिल्म में नहीं है इसलिए वह अपने ज्यादा निकट और सहज लगता है । दोष दर्शक का नहीं है, कारण देशव्यापी रंगमंच आन्दोलन का अभाव है जिसका आरंभ संगीत नाटक अकादमी जैसी संस्थाओं और सरकार ने किया है । लेकिन दुर्भाग्य से अन्य कार्यक्रमों की तरह यह भी निजी स्वार्थों और राजनीतिक चालों के फेर में असफल हो रहा है । दर्शक समूह तैयार करने के लिए राष्ट्रीय रंगमंच या लोक-रंगमंच ही आवश्यक है । एक स्थिति इससे भिन्न भी है-कुछ नाटककार दर्शक को ध्यान में रखकर नाट्यरचना करना चाहते हैं और कुछ दर्शक की सत्ता से स्वतंत्र होकर । हैरोल्ड पिंटर कहता है कि लिखते समय मैं दर्शक को उबाना नहीं चाहता । दूसरी

ओर जान आसबौर्न कहता है कि अपने लिए कुछ लोगों के लिए लिखना आसान है, सबके लिए भी लिखना संभव है लेकिन एक भीड़ तक पहुँचने की चिन्ता करना मैं एक नाटककार के समय का अपव्यय समझता हूँ। आर्डेन भी स्वीकार करता है कि नाटक लिखते समय मेरे सामने कोई दर्शक के चेहरे पर चपत मारने जैसी लगती है – एक खतरनाक खेल। ये सभी बातें अलग होते हुए भी कुछ संकेत देती हैं। एक तो नाटक के साथ दर्शक की सत्ता है। दूसरे लेखक उसकी रूचि से नियमबद्ध नहीं हैं, वह मनोरंजन या बुद्धि विलास लिखे नाटक साहित्यिक दृष्टि से स्थायी नहीं होते, प्रायः पॉपुलर किस्म के होते हैं। नाट्य रचना करते समय लेखक के मस्तिष्क में दर्शक रहता है, वह एक विवादास्पद प्रश्न है और भारतीय संदर्भ में खासकर हिन्दी नाटक के संदर्भ में व्यर्थ भी लेकिन अपने देश का दर्शक उसकी प्रकृति, स्वभाव, उसका बौद्धिक विकास लेखक की दृष्टि में रहना आवश्यक है। चाहे अचेतन रूप से ही सही। यह नहीं भूलना चाहिए कि नाटक दर्शक समूह बनाता भी है। दर्शकों की थियेट्रिकल समझ और रंग अनुभव की कमी के कारण कभी-कभी नाटककार अपने रचनाक्षेत्र को रचना-पद्धति को सिकोड़ भी लेता है। शेक्सपीयर ने थियेटर का आदमी होने के कारण अपने दर्शक की आँख से उसकी प्रतिक्रिया का अनुभव करते हुए लिखा। दर्शक का शिक्षित होना उतना जरूरी नहीं है जितना थियेटर का अभ्यस्त होना, क्योंकि दर्शक के सुस्त और सक्रिय और गर्म और ठंडा होने के अनुसार ही अभिनेताओं का अभिनय, नाटककार के सारे नाटक का टेम्पो बदलता जाता है। यह नाटक पर निर्भर करता है कि वह दर्शक समूह को अधिक खुले दिमाग के साथ छोड़े। जरा खुली दृष्टि से देखा जाए तो दर्शक मनोवृत्ति को बदलने में नाटक और रंगमंच का सदुपयोग हो सकता है। बाल रंगमंच का प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण है। कॉलेज और विश्वविद्यालयों के स्तर पर भी नाट्य-प्रशिक्षण जरूरी है क्योंकि यह एक ऐसी प्रत्यक्ष कला है जो युवा मानस को अभिव्यक्त भी करती है, बदलती है। युवा आक्रोश को रचनात्मक दिशा देने की शक्ति इसी विधा में है। नाटक और रंगमंच युवा अभिव्यक्ति का सर्जनात्मक माध्यम बन सकता है। कुछ विश्वविद्यालयों में यह प्रयोग हुए हैं खासकर विदेशों में। रंगशिल्प रंगमंच का महत्त्वपूर्ण तथ्य है। अरस्तू ने साज-सज्जा को नाट्य-प्रदर्शन का आधार माना था। पहले दर्शक दृश्य-सज्जा, भव्य-रंग-चयन के लिए जाता था और कृत्रिम रंग शिल्प काफी आकर्षक तत्त्व माना जाता था। यानी पर्दों का प्रयोग, चटक रंग, मुखौटा, तड़क-भड़क वाली वेषभूषा, गहरा बनावटी वेश इत्यादि। लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद कृत्रिमता का स्थान धीरे-धीरे अभिनय ने ले लिया। यथार्थ, सादा रंगमंच प्रतीकात्मकता आदि बाह्य अलंकरण कम हो गए, सुविधा, स्वाभाविकता जीवन की निकटता, अभिनय, सौन्दर्य मुख्य हो गए। रंगशिल्प एक व्यापक शब्द है जिसमें दृश्यबन्ध नहीं आता, वस्त्र, प्रकाश-व्यवस्था-शृंगार, ध्वनि-प्रभाव संगीत सभी आ जाते हैं। इन सभी के लिए नाटक की अपनी विशेष मांग होती है। जिसे समझते हुए निर्देशक अपनी कल्पना-शक्ति का समुचित प्रयोग भी कर सकता है क्योंकि वेशभूषा रूप-सज्जा भी नाटक के अर्थ को चरित्र की दुहरी व्यंजना को प्रकट करने में सहायक होती है। इसीलिए वेशभूषा का चयन और उपयोग रूप सज्जा भी अपने कलात्मक कार्य हैं क्योंकि अभिनेता का पूरा व्यक्तित्व और नाटक के पात्र उसकी अर्थ-व्यंजना उससे सीधे प्रभावित होती है। विश्वसनीयता और प्रभावपूर्णता आदि पहली शर्त हो सकती है। ये तत्त्व अभिनेता की अभिनय कला और व्यक्तित्व को उभारने में सहायक होने चाहिए न कि उसके बोझ से दब जाने वाले। बहुत-सी बातें मूड, स्थितियों नाटकीय प्रभाव केवल प्रकाश योजना से ही पैदा किए जा सकते हैं। रोमांटिक वातावरण के लिए अत्यन्त करूण विषादपूर्ण वातावरण के लिए, किसी भयंकर पैशाचिक वातावरण की सृष्टि में प्रकाश ही मुख्य तत्त्व होगा। इसीलिए नाटक की मांग के अनुसार प्रकाश भी बदलेगा। इसी माने में ध्वनि, प्रभाव और संगीत-नृत्य-गीत भी नाटक को सार्थक बनाते हैं। नाटककार जिसका उल्लेख न भी करें निर्देशक आवश्यक स्थलों पर ध्वनि-प्रभाव देकर वातावरण को दर्शक

तक पहुँचाता है । सभी बातें यह स्थापित करती हैं कि नाटक एक साहित्यिक विधा और सामूहिक कला है । नाटक का अध्ययन करते समय और उसे पढ़ते समय भी उसकी इस मौलिकता को ध्यान में रखना होगा । कोशिश करनी होगी कि नाटक में बुने हुए रंगमंच को कल्पना में साकार करें, खोजें, उसी में निहित रंग संवेदनाओं और रंगबोध को पहचाने हर नाटक की अपनी अभिनय-शैलियाँ, रूढ़ियाँ और रंग-शिल्प होते हैं । 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के रंगमंच से 'आधे अधूरे' का रंगमंच अवश्य ही भिन्न होगा । यह कहीं बाहर से विचार कर लाना नहीं है, न आरोपित करना है । रचना में से उसकी सर्जनात्मकता और रंग चेतना को ढूँढ कर बाहर लाना है । यह दूसरी बात है कि एक नाटक पर विभिन्न प्रयोग किए जाएँ । लेकिन प्रयोग नाटक के स्वभाव को - आत्मा को पहचान कर ही होंगे, उसे एकदम भुलाकर या नकार कर नहीं, इसलिए नाटक सचमुच एक चुनौती है । हर नाटक अपने में पूरा आन्दोलन है, पूरा साहित्य है, पूरी कला है । नहीं है तो उद्देश्यपूर्ण, मनोरंजक, सम्वाद-बद्ध पुस्तक । हिन्दी नाटककारों में अकेला नाम मोहन राकेश का उभरता है जिसने नाटक को सशक्त विद्या और रंगमंच को सजीव सार्थक माध्यम रूप में लिया और जो नाटक और रंगमंच की कलागत मौलिकता और जटिलता को सामने लाया ।

30.3 अभ्यास के प्रश्न

1. हिन्दी नाटक और रंगमंच आन्दोलन पर निबंधात्मक टिप्पणी लिखें ।
2. हिन्दी नाटक और रंगमंच आन्दोलन का विवेचन कीजिए ।

मोहन राकेश – व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पाठ संरचना

31.0 उद्देश्य
31.1 परिचय
31.2 व्यक्तित्व
31.3 कृतित्व
31.4 अभ्यास के प्रश्न

31.0 उद्देश्य

मोहन राकेश को एक दोस्त ने उन्हें 'साहित्य का सुल्ताना डाकू' कहा था, जो टाइम्स ऑफ इंडिया' जैसे अमीरों को लूटता था और 'इनैक्ट' जैसे गरीबों में बाँट देता था । विश्वम्भर सरेका ने उन्हें साहित्य का बुलडॉग कहा है तो उनके अभिन्न हृदय मित्र कमलेश्वर के अनुसार 'राकेश जैसा आदमी दुनिया के पर्दे पर नहीं है ।' इस इकाई का उद्देश्य मोहन राकेश के व्यक्तित्व और कृतित्व से पाठक को परिचय कराना है ।

31.1 परिचय

आधुनिक नाटककार के रूप में हिन्दी साहित्य में उनका मोहन राकेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है । नाटककार के रूप में मोहन राकेश ने यदि कोई नव्य दिशा निर्देश नहीं भी दिया, तो यह भी सत्य है कि काव्य तत्त्वों और साहित्यिक गुणों से सम्पन्न हिन्दी नाटक को सरलतम रंगमंच तक ले जाने का श्रेय मोहन राकेश को ही दिया जाएगा। आज जो रंगमंच उपलब्ध है, उस दृष्टि से मोहन राकेश का व्यक्तित्व निश्चय ही प्रसाद जी से बहुत आगे है, समस्या नाटककारों से भी कहीं आगे । क्योंकि यहाँ कोरा बौद्धिक विलास या संभावित समस्याओं का चित्रण नहीं, काव्यजन्य कुण्ठाओं का बौद्धिक विलास भी नहीं है । इसी कारण हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास के क्षेत्र में मोहन राकेश का व्यक्ति सर्वथा अपना और अलग –अलग है ।

31.2 व्यक्तित्व

मोहन राकेश का जन्म 8 जनवरी 1925 को अमृतसर की जड़ीवाली गली के एक सीलनभरे अँधेरी सीढ़ियों और बद्बूदार नालियों वाले घर तथा दादी माँ के अंधविश्वासों, टोने–टोटकों और भूत–प्रेतों के सच्चे–झूठे आतंक के बीच हुआ । स्वयं राकेश के शब्दों में, जीवन में जो पहली शिक्षा मुझे प्राप्त हुई, वह यही थी कि घर के बाहर (और इस अर्थ में ताई का कमरा भी घर के बाहर ही था) कोई भी व्यक्ति स्नेह और विश्वास का पात्र नहीं ।....वह जीवन

की कल्पना कुछ ऐसी थी, जैसे चारों ओर बने हुए मकड़ी के जाले के अंदर थोड़ी-सी खाली जगह थी, जहाँ हम रह रहे थे; जरा भी हिलने-डुलने में उस जाले में फँस जाने की संभावना थी, अतः सुरक्षा इसी में थी कि अपने कोने में यथासंभव निश्चेष्ट रहा जाए । आमोद खतरे का विषय था । डिबिया में बंद कीड़े की तरह जीना ही जीने का एक रास्ता था । सबसे पहले राकेश ने होश संभालते ही 'घर' की इस संकीर्ण और घुटनभरी बंद कैद से ऐसा विद्रोह किया कि लगभग जीवन भर वह बेघरबार की सी जिंदगी ही जीते रहे । गालिब की तरह बेदरो-दीवार का घर बेशक न बनाया हो, मगर जब बनाया भी तो उसकी खिड़कियाँ, दरवाजे और रौशनदान सबके लिए हमेशा खुले रहे । महानगरों में रहने के बावजूद प्रकृति के साथ तादात्म्य करके जीना ही उनकी जीवनशैली बन गई । दुस्साहसी बनकर नए-नए खतरे उठाना और बने-बनाए रास्तों को छोड़कर चलना, विश्वास करना और धोखे खाना उनका जीवन-दर्शन हो गया । उन्होंने दुनिया को मुसाफिरखाना और स्वयं को खानाबदोश बना लिया ।

पिता श्री करमचंद अरोड़ा (गुगलानी) पेशे से वकील और अत्यंत अनुशासनप्रिय एवं संस्कारी व्यक्ति थे । वह वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णव थे और सोलह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने 'ब्रह्म सम्बन्ध' ले लिया था । उस धार्मिक नियम के तहत वह अपने घर के या किसी ब्राह्मण के चौके के अतिरिक्त और कहीं का भोजन नहीं खा सकते थे । पानी वह कुएँ में से शुद्ध पात्र में अपने या ब्राह्मण के हाथ का खींचा हुआ पीते थे । पिता की जल्दी मृत्यु हो जाने के कारण उस विकट संयम और खानपान की अटूट मर्यादा की तीव्र प्रतिक्रिया भी राकेश में जल्दी ही हुई । तथाकथित सुरक्षा, संयम, नियम, मर्यादा और खुले जीवन को किसी भी रूप या स्तर से बाँधने वाले अनिवार्यता के प्रति तीव्र वितृष्णा, असंतोष, विरोध और विद्रोह का भाव उनके स्वभाव का अभिन्न एवं अविभाज्य अंग बन गया । लाहौर के खुले परिवेश और ज्ञान जैसे अमीर दोस्त के साथ ने इस नए रंग को और भी पक्का कर दिया । राकेश ने पहला प्रेम अपने दूर के रिश्ते की एक बहिन से ही किया और उसी के कारण वह मांसाहारी भी बने । दुर्भाग्य से जल्दी ही उसका निधन हो गया, परंतु खाने-पीने के मामले में राकेश अंत तक स्वतंत्र बने रहे । दिल्ली में जामा मस्जिद की निहायत गंदी सी दुकान के बेहद लजीज कबाब और चिल्ड बियर राकेश की कमजोरी थे । लेकिन माँ (श्रीमती बच्चन कौर) की बेइंतिहा इज्जत करने वाली राकेश ने उनकी रसोई को भी अपवित्र नहीं होने दिया और उनकी आस्था को कभी ठेस नहीं पहुँचाई । अम्माँ के मन में भी राकेश के प्रति अखंड और अनंत विश्वास तथा प्यार था । राकेश ने शहर बदला हो या नौकरी या बीवी - उन्होंने कभी कोई सवाल नहीं किया । राकेश को इस तरह निरंकुश बनाने में माँ के इस अंधे प्यार ने भी निर्णायक भूमिका निभाई होगी ।

दिलचस्प बात तो यह है कि राकेश ने अपने वंशानुक्रम से प्राप्त संस्कारों और परिस्थितियों के प्रभावों से ही नहीं बल्कि भाग्य और सितारों का भी कम विरोध नहीं किया । अंक विज्ञान के अनुसार उनका जन्मांक 8 था । जन्म के इस अंक वाला व्यक्ति दृढ़ प्रकृति और अपने अधिकारों के प्रति सचेत तो होता है - जैसे कि राकेश भी थे । परंतु इस अंक वाले व्यक्तियों की शेष विशेषताएँ-जैसे - उसका व्यवसाय, सेना या राजनीति से सम्बद्ध होना तथा मित्रों को उनकी सम्पत्ति या शक्ति के आधार पर आँकना अथवा वस्तु की कलात्मक सुंदरता के आधार पर आँकना अथवा वस्तु की कलात्मक सुंदरता की अपेक्षा उसके मूल्य को अधिक महत्त्व देना और पैसे या सत्ता के लिए कुछ भी कर गुजरने जैसे जन्मजात गुण राकेश ने अपने में कतई नहीं आने दिए ।

नियति में राकेश को विश्वास नहीं था और भाग्य के मुकाबले भी वह भविष्य को ही अधिक महत्त्व देते थे । फिर भी अधिकांश लोगों की तरह उन्हें तीन की संख्या पसंद नहीं थी । अनीता राकेश को सम्बोधित कुफ्री (शिमला)

से लिखे 04.04.63 के पत्र में राकेश स्वीकार करते हैं कि "आज तीन तारीख है । पत्र कल निकलेगा इसलिए ऊपर चार तारीख डाली है । तीन का हिंदसा वैसे भी मुझे मनहूस लगता है ।" और मजेदार बात यह है कि उनके जन्म के नाम मदन मोहन का अंक भी तीन ही बनता है । जिसके अनुसार व्यक्ति प्रतिभावान और कल्पनाशील तो होता है । परंतु इस अंक के व्यक्तियों में पाए जाने वाले विज्ञान, कलाओं और खेलों में दिलचस्प तथा तात्कालिक लाभ के लिए भावी सर्वोत्तम लाभों को छोड़ देने या मामूली चीजों के लिए धैर्य खो देने जैसे दुर्गुणों से स्वयं को बचाने के लिए उन्होंने अपना नाम मदन मोहन से मोहन राकेश बनाकर अपने नाम-अंक को भी तीन के बजाए पाँच बना लिया । इस नाम-संख्या वाला व्यक्ति उत्साही, दुस्साहसी, असामान्य के प्रति आकर्षित होने वाला, नए विचारों को ग्रहण करने के लिए तत्पर, घुमक्कड़, देश-विदेश में कहीं भी रह सकने में समर्थ, अनिश्चित, अप्रत्याशित, अस्थिर स्वभाव तथा रूटीन कर्तव्यों के प्रति अत्यंत लापरवाह जैसे विशेषताओं से युक्त होता है और मोहन राकेश के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित उनके लगभग सभी पाठक ये तथ्य अच्छी तरह जानते हैं कि पाँच की नाम संख्या वाले ये तमाम गुण या अवगुण राकेश में कूट-कूट कर भरे हुए थे । जाहिर है कि राकेश ने अपने नाम को ही नहीं, इन विशेषताओं को भी स्वयं ही अर्जित किया था । उनके व्यक्तित्व के बदलाव सन् 1950 से लेकर 1972 तक लगातार बदलते हस्तलेख और हस्ताक्षर के विविध रूपों में भी देखे जा सकते हैं । वह कहते हैं, "मैं 'इवननैस' बर्दाश्त नहीं कर सकता । मैं हमेशा 'अनईवन' रहना चाहता हूँ । 'अनइवननेस' से ही सस्पेंस है, थ्रिल है, मजा है ।" या जैसा कि उन्होंने अपने मित्र गिरधारी लाल वैद को अपने 20.04.51 के पत्र में स्पष्ट लिखा है कि "शांति में स्थिरता होती है और स्थिरता से मैं डरता हूँ ।" लेकिन कैसी विडम्बना है कि अपने नाम अंक को तीन से पाँच बना लेने वाले राकेश की मृत्यु मनहूस तीन तारीख को ही हुई ।

'काम' राकेश के जीवन का मूलाधार रहा है । सर्वविदित है कि लेखन उनका काम था और वह अंत तक उनके जीवन की पहली प्राथमिकता बना रहा । 'काम' का अर्थ यदि सेक्स है तो उससे भी राकेश कभी बच नहीं सके । यह अलग बात है कि किसी औरत के साथ रहना शायद उससे भी ज्यादा मुश्किल था । और 'काम' का अर्थ कामना, जीवनी शक्ति, कर्मठ जीवन में आस्था और अटूट विश्वास है तो श्रीनगर से भाभी श्रीमती कौशल्या अश्क को 06.05.59 को लिखे एक लंबे डिपैसिंग पत्र के अंत में राकेश पूरे निश्चय और विश्वास के साथ लिखते हैं कि ".....मगर मैं जिंदगी को एक हारे हुए आदमी के दृष्टिकोण से ग्रहण नहीं कर सकता - कि जो कुछ मिलता है वही सही ।"

अपने तमाम अंतर्द्वन्द्व, संशय, अनिश्चय, अनिर्णय और दुख के बावजूद राकेश में अपने सिद्धान्तों, मूल्यों और विश्वासों के लिए लड़ने की अद्‌भुत हिम्मत थी । अपनी शर्तों पर जिंदा रहने की तड़प, आत्मसम्मान और लिखने के लिए सब कुछ छोड़ देने की कुव्वत, सम्बन्ध बनाने और आखिर तब उन्हें निभाने की जी-तोड़ कोशिश, लक्ष्य को पा लेने की बेसब्री, खून की गर्मी और संवेदनाओं - भावनाओं की कोमलता के साथ-साथ प्रखर बौद्धिकता की चमक एवं उनके बहुमुखी सम्मोहक व्यक्तित्व की खुशबू - राकेश के कथा-साहित्य और नाटकों के अनेक चरित्रों में साफ-साफ देखी जा सकती है । उन्होंने जब भी और जो कुछ भी लिखा, अपने ही जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया ।

राकेश का जीवन और लेखन एक प्रयोगशाला की तरह थे, जिसमें उन्होंने स्वयं अपने और अपने समय, समाज तथा गहराई से जीने, जानने और जाँचने-परखने की बार-बार कोशिश की । यह अनवरत और अनंत तलाश ही जैसे

उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की धुरी है । स्वयं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने 1 जून 1957 को अपनी डायरी में लिखा था कि "....तू हवा और पानी का साथी है, उनके साथ मिलकर उनकी तरह ही जी - जीवन में ख्याति या प्राप्ति तेरी उपलब्धि नहीं है । तेरी उपलब्धि तेरी खोज है । खोज और जी ।" अपनी आंतरिक और बाह्य प्रकृति के साथ एकात्म होकर जीने और तमाम उपलब्धियों को ठोकर मारकर प्रति पल नई चुनौतियाँ खोजने वाले राकेश सचमुच एक अनूठे विद्रोही थे ।

मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक मूर्धन्य रचनाकार हैं । केवल तीन या साढ़े तीन नाटकों के रचयिता होने के बावजूद समकालीन भारतीय नाटक के क्षेत्र में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है । राकेश के नाटकों की संख्या भले ही कम हो और उनका कथ्य कितना ही सीमित हो, परंतु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के अतिरिक्त, मराठी, बंगला, कन्नड़, गुजराती, पंजाबी, असमिया, मणिपुरी और अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं में विविध शैलियों, रंग-रूपों और नई-नई व्याख्याओं के साथ देश-विदेश में की गई उनकी बहुसंख्य प्रभावशाली प्रस्तुतियों ने हिन्दी भारतीय रंगान्दोलन को विकसित और समृद्ध करने में निश्चय ही एक ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है । परंतु हिन्दी रंगकर्म में उनके इस बहुमुखी एवं बहुआयामी योगदान की प्रायः उपेक्षा की गई है ।

इस स्थिति के दो प्रमुख कारण हैं - पहला, अकादमिक एवं सामाजिक स्तर पर रंगकर्म के संबंध में हमारा बद्धमूल संकीर्ण दृष्टिकोण; और दूसरा, इस विषय के अध्ययन की व्यावहारिक सीमाएँ एवं समस्याएँ । हिन्दी प्रदेशों में रंग-परम्परा और रंग-संस्कार के अभाव के कारण रंगकर्म को गम्भीर, रचनात्मक एवं सशक्त अभिव्यक्ति-माध्यम मानने के बजाए केवल मनोरंजन का एक हीनतर कला-माध्यम स्वीकार करके इसे शिक्षित, सभ्य एवं सुसंस्कृत नागर-समाज से बहिष्कृत कर दिया गया इसी मनोवृत्ति ने हिन्दी नाट्यालोचन अनुसंधान एवं अध्यापक के स्तर पर नाटक को 'पाठ्य' और 'मंचीय' जैसे भ्रामक वर्गों में विभक्त कर दिया । इसके विपरीत अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं में नाटक और रंगमंच को अन्योन्याश्रित मानते हुए स्पष्टतः यह स्वीकार किया गया कि "Text is now a kind of surrender, for the text will not tell us much untill it speaks in its own medium." (The Shakespeare Revolution : J.L., Saton : P. 237)

यही कारण है कि शेक्सपीयर और कुछ अन्य कालजयी नाटककारों की प्रस्तुतियों और उनके निर्देशकों, अभिनेताओं एवं पार्श्वकर्मियों इत्यादि को लेकर अंग्रेजी और संसार की अन्य भाषाओं में अत्यंत गंभीर, शोधपरक और महत्त्वपूर्ण समीक्षा-कार्य सम्पन्न हो सका है । परंतु जहाँ तक हिन्दी नाट्यालोचन एवं शोध का प्रश्न है, इस तरह के नाटक-रंगमंच समन्वित, संश्लिष्ट अध्ययन-विश्लेषण की अभी शुरूआत तक नहीं हुई है । यह कहना शायद और भी सही होगा कि इस दिशा में अभी हमने गंभीरता से सोचना भी शुरू नहीं किया है ।

व्यक्तित्व के कुछ पहलू - असंतोष का भाव मोहन राकेश के जीवन में शायद जन्मजात है ! उनका यह भाव कॉलेज के दिनों में भी इन शब्दों में व्यक्त हुआ करता था - "देखो, आर्थिक क्रांति के साथ-साथ सारी दुनिया में एक ओर क्रान्ति का होना अनिवार्य है । यह क्रान्ति होगी मानवीय सम्बन्धों में हमारी सामाजिक संस्थाओं में; धर्म नैतिकता और संस्कृति संबंधी हमारे संस्थाओं में; धर्म, नैतिकता और संस्कृति संबंधी हमारे संस्कार जिस सभ्यता की देन है, वह खोखली पड़ चुकी है ।"

मोहन राकेश को जिस परिवेश में पलना पड़ा, उनमें उनकी दादी अत्यधिक अन्धविश्वासिनी और वहमों में पलने

वाली नारी थी । उसने इन्हें भी प्रभावित करने का प्रयत्न किया, किन्तु इन्हें शैशवी सुकुमार क्षणों से ही वहमों एवं अन्धविश्वासों से स्वभावत: चिढ़ थी । संयुक्त परिवार होने के कारण इनका घर कलह का अखाड़ा भी बना रहा करता था, अत: घर के घुटन भरे वातावरण से निरन्तर भागने का प्रयत्न किया करते । स्वभाव एवं शैशव से ही सूक्ष्म-निरीक्षणी बालक मदन मोहन (राकेश) बड़ा होकर डाकू बनेगा । वह डाकू तो न बन सका, हो सूक्ष्मदर्शी कलाकार अवश्य बन गया ।

होश सँभालते ही इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । आर्थिक वैषम्य तो इस सीमा तक झेला कि मकान का किराया अदा किए बिना मकान मालिक ने पिता के शव तक को उठाने न दिया । माँ की चूड़ियाँ बेचकर जब किराया चुका दिया, तभी शव का अन्तिम संस्कार संभव हो सका । वह मानसिक उत्पीड़न एवं तद्जन्य आक्रोश आज भी उनके व्यक्तित्व एवं साहित्यिक व्यक्तित्व में देखा जा सकता है ।

अपने स्वाध्याय-काल से ही राकेश जी नाटकों के अभिनय आयोजन में भी भाग लेने लगे थे । इसी प्रकार स्टूडेण्ट यूनियन के माध्यम से राजनीति में भी भाग लिया करते थे । भारत-विभाजन की प्रतिक्रिया भी इनके व्यक्तित्व पर बड़ी गहरी हुई थी । तभी से इन्होंने साहित्य सृजन आरंभ कर दिया था । इनकी 'दोराहा' नामक प्रथम कहानी 1947 में प्रकाशित होने वाली 'सरिता' में प्रकाशित हुई थी । मानसिक अस्थिरता और तनाव का कारण इनकी विषमतापूर्ण परिस्थितियाँ ही थीं । आरंभ में ही उनकी धारणा थी कि एक लेखन के बल पर जी सकता है । संभवत: आज उन्होंने अपनी यह धारणा चरितार्थ कर दिखाई है । यों रोजी के लिए अनेक पापड़ बेलने पड़े हैं, परंतु अब उनका व्यक्तित्व इस दृष्टि से पूर्णत: स्वतंत्र था ।

जीवन के विविध परिवेश एवं आयाम व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सर्जन में सूक्ष्मत: सहायक हुआ करते हैं । इन समरत्त स्थितियों ने ही मोहन राकेश के समूचे एवं सभी प्रकार के व्यक्तित्व को गढ़ा था । अब उनके जीवन एवं विचारों में सन्तुलन एवं ठहराव आ गया था । सारा विष पचाकर, उसका परिष्कार कर अब वे साहित्य-सर्जना में स्थिर मति से संलग्न थे ।

31.3 कृतित्व

मोहन राकेश कहानकारी पहले हैं, बाद में वह नाटककार हैं । पर कहानी और नाटककार के अतिरिक्त वह कुछ और भी हैं, जिसका मूल्यांकन होना अभी बाकी है । उसके लिए अलग स्थान और समय अपेक्षित है । विधात्मक दृष्टि से मोहन राकेश के समग्र कृतित्व को निम्न खंडों में विभाजित किया जा सकता है ।

(क) कहानीकार - इस रूप में ही सर्वप्रथम मोहन राकेश को ख्याति को साहित्यिक महत्त्व प्राप्त हो सका । वास्तव में उसके कहानीकार का व्यक्तित्व सर्वाधिक प्रखर एवं मौलिक है । उस रूप में अभी तक वह निम्नलिखित कहानी-संग्रह हिन्दी कथा साहित्य को प्रदान कर चुके हैं ।

1. इन्सान के खण्डहर - प्रकाशन काल सन् 1950
2. नए बादल - प्रकाशन काल सन् 1957
3. जानवर और जानवर - प्रकाशन काल सन् 1958
4. एक और जिन्दगी - प्रकाशन काल सन् 1961

5. फौलाद का आकाश - प्रकाशन काल सन् 19666
6. आज के माथे - प्रकाशन काल सन् 1967
7. रोयें-रेशे - परवर्ती कहानी संग्रह
8. एक-एक दुनिया - परवर्ती कहानी संग्रह
9. मिले-जुले चेहरे - परवर्ती कहानी संग्रह

इनमें संकलित प्राय: सभी कहानियाँ समय-समय पर देश की सम्मानित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है । प्राय: सभी प्रकार के और सभी आन्दोलनों से संबंधित पाठकों और आलोचकों ने इनकी मुक्तकण्ठ से सराहना की है । क्योंकि इनमें जीवन के विविध आयामों को बड़े कुशलता से सहेजने का सफल प्रयास किया गया है ।

(ख) उपन्यासकार - मोहन राकेश का उपन्यासकार रूप अभी तक यद्यपि कहानीकार और नाटककार के रूपों के समान प्रखर नहीं हो पाया, फिर भी अभी तक उन्होंने निम्नलिखित सुन्दर संभावनाओं से भरे उपन्यास हिन्दी साहित्य को प्रदान किए हैं ।

1. अंधेरे बंद कमरे - 1971 में प्रकाशित प्रथम उपन्यास ।
2. नीली रोशनी की बाहें ।
3. कांपता हुआ दरिया ।
4. न आने वाला कल ।

इन उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मोहन राकेश के व्यक्तित्व में एक समर्थ उपन्यासकार की समस्त संभावनाएँ अन्तर्निहित है । इस दिशा में भी उनका सजग कलाकार विशेष महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हो सकता है ।

(ग) निबन्धकार - इस रूप में मोहन राकेश का व्यक्तित्व पर्याप्त प्रज्ज्वलित एवं सजग है । लगता है वे युग के प्रतिपल परिवर्तित हो रहे सभी प्रकार के मानों का अध्ययन बड़ी सचेष्ट सजगता से कर रहे हैं । इधर कुछ आलोचनात्मक निबन्ध उनकी सर्जनाओं की भूमिका के रूप में देखे जा सकते हैं । उन्होंने कुछ विधात्मक निबन्धों की सर्जना भी है जिनका संकलन 'परिवेश' में हुआ है । यहाँ भी उनका व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण सम्भावनाओं से अछूता नहीं है ।

(घ) यात्रा-विवरण संस्मरण - मोहन राकेश एक रंगीन प्रकृति के घुमक्कड़ व्यक्ति हैं । जीविकोपार्जन की दृष्टि से तो उन्होंने अनेक स्थानों का परिभ्रमण किया ही, यों भ्रमणेच्छा को पूर्ण करने के लिए भी उन्होंने पश्चिमी समुद्र तट के साथ-साथ कन्याकुमारी तक एक लम्बी यात्रा की है इस यात्रा का सरस एवं रोचक विवरण 'आखिरी चट्टान तक' नामक सर्जना में पढ़ा जा सकता है । इसे पढ़ने से उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी दृष्टि का स्पष्ट आभास मिल जाता है । उनकी पैनी दृष्टियाँ पथ में आने वाले जड़-चेतन समस्त पदार्थों और प्राणियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर उसे कैनवास पर उतार पाने में पूर्ण सफल हुई हैं ।

(ङ) नाटककार - कहानी के बाद मोहन राकेश के व्यक्तित्व को सर्वाधिक सफलता के साथ नाटकों में ही पूर्ण अभिव्यक्ति मिल पाई है । इस रूप में श्री जयशंकर प्रसाद के बाद हमारे विचार में उनका व्यक्तित्व सर्वाधि

क प्रखर है । अभी तक उनके जो नाटक प्रकाश में आए हैं, उनमें से अधिकांश को ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा में रखा जा सकता है । फिर भी वे पूर्णतया ऐतिहासिक नहीं, बल्कि आधुनिक जीवन के भावबोध को भी अपने सीमित अन्तराल में संजोए हुए हैं । इस सम्बन्ध में नाटककार मोहन राकेश के अपने शब्द विशेष दर्शनीय हैं ।

'इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता । इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय-तालिका में प्रस्तुत करता है । साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा । इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि-क्षेत्र नहीं है । साहित्य इतिहास के समय से बन्धता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है । इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज' और 'कल' नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा-संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य है ।''

वास्तव में साहित्य इतिहास नहीं बन सकता, अतः मोहन राकेश के ऐतिहासिक नाटक भी अपने अन्तराल में कुछ ऐतिहासिक तत्त्वों को सहेज कर भी साहित्यिक ही अधिक हैं, ऐतिहासिक उतने नहीं । अभी तक कुल मिलाकर निम्नलिखित तीन नाटक लेखन ने हिन्दी साहित्य को प्रदान किए हैं :-

(1) आषाढ़ का एक दिन (1958)
(2) लहरों के राजहंस (1963)
(3) आधे अधूरे (1969)

इनमें से हमारा विवेच्य नाटक 'लहरों के राजहंस' ही है, फिर भी नाटककार के रूप में मोहन राकेश का मूल्यांकन करने और उसकी नाट्यकला के सम्यक् परिशीलन की दृष्टि से सामान्यतया लेखक के अन्य नाटकों के प्रतिपाद्य से परिचित होना समीचीन होगा । अतः यहाँ 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आधे अधूरे' का संक्षिप्त तथा सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

'आषाढ़ का एक दिन' - रचनाक्रम की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' मोहन राकेश का प्रथम नाटक है । प्रथम होते हुए भी निश्चय ही अपनी अनेक विशेषताओं के कारण इस नाटक ने हिन्दी जगत का ध्यान तत्काल अपनी ओर आकर्षित कर लिया था । उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद भी उठे थे । विवाद का एक कारण कालिदास का चरित्र-चित्रण था और दूसरा रंगमंच की समस्याओं से संबंधित । दूसरे विवाद को तो पूर्णतया असंगत और विकृत मस्तिष्कों की उपज कह सकते हैं । क्योंकि रंगमंच की सभी प्रकार की सम्भावनाएँ आषाढ़ का एक दिन नाटक में पूर्णरूपेण विद्यमान हैं । बाकी जहाँ तक कालिदास के चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध है, निश्चय ही नाटककार ने उसे अपनी संभावनाओं के सांचे में सफलता के साथ ढाला है । वह सांचा भी केवल कपोल-कल्पित नहीं, बल्कि कालिदास के संबंध में उपलब्ध इतिहास, मान्यताओं और किंवदन्तियों पर आधारित है। यदि उसमें आधुनिक परिवेश और कलाकार की समस्याएँ आ गई हैं, तो यह किसी भी प्रकार से अनौचित्य नहीं है । कोई भी कलाकार अपने युग से कटकर रह नहीं सकता । फिर कालिदास के महामय से व्यक्त समस्याएँ कलाकार की केवल आधुनिक ही नहीं बल्कि चिरन्तन समस्याएँ हैं । अपने मूल से उखड़कर, राजनीति और राज-सेवा का अंग बनकर किसी भी युग का कलाकार न तो मानसिक शान्ति ही प्राप्त कर सका और न जीवन तथा समाज को कुछ मौलिक ही दे सका । फिर तो वह 'खादी के धागे' कातने वाला ही बन कर रह गया और अन्त में उसकी प्रबल तथा मुखर चेतना किसी अनजाने क्षितिज में अन्तहित होकर रह गई । निश्चय ही यह कलाकार की पराजय मात्र नहीं, बल्कि उसका करूण अवसान

है । सर्जक की आत्महत्या और हत्या है । मोहन राकेश का स्वच्छन्द और स्वाभिमानी कलाकार यह सहन न कर सका, इसी कारण 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में कालिदास को उनके संबंध में उपलब्ध और उसके साहित्य में अभिव्यक्त मान्यताओं के सांचे में ढाला और उसी दृष्टि से देखा, जो नितान्त सत्य हो सकती थी ।

यहाँ हमारा मन्तव्य 'आषाढ़ का एक दिन' की कहानी कहना बल्कि उसमें अन्तर्निहित नाटककार के भावी रूप की सम्भावनाएँ खोजना है । वास्तव में जीवन में कुछ ऐसे क्षण भी होते हैं जिन्हें अमूल्य कहा जा सकता है । उन क्षणों का बोध ही अक्सर व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास और सृजनात्मक प्रक्रियाओं का मूल आधार बनाता है, कालिदास ने भी अपने समूचे साहित्य में उस क्षणबोध को ही ऐसा सजाया और संवारा है, जबकि मोहन राकेश ने भी अपने प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में यही सब किया है । हम यहाँ 'लहरों के राजहंस' का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहेंगे । यहाँ भी एक क्षण का बोध ही - कि तथागत बिना भिक्षा लिए अपने भाई नन्द के द्वार से लौट गए नन्द और सुन्दरी के जीवन की समस्त क्रिया-प्रक्रिया को बदल देता है । उनकी दिशाओं को भिन्न कर देता है और यही नाटक की समूची सर्जना-प्रक्रिया सार तत्व भी है । इसी प्रकार क्षणबोध आषाढ़ का एक दिन नाटक में कालिदास के जीवन की दिशा को भी एक बार नहीं क्रमशः दो बार परिवर्तित कर देता है । इस परिवर्तन में ही नाटक की सर्जना-प्रक्रिया का मूल रहस्य छिपा हुआ है । इसी कारण अपने समूचे परिवेश में आषाढ़ का एक दिन ऐतिहासिक न होते हुए भी ऐतिहासिक संभावनाओं पर विनिर्मित एक सफल नाटक है । मोहन राकेश के सफल नाटककार होने की संभावनाओं का ऊर्ध्वारोही मूल बीज है । 'आषाढ़ का एक दिन' में भी नाटककार ने कोमल अस्थिर और अन्तर्द्वन्द्व से ग्रसित कालिदास के व्यक्तित्व की 'क्षणबोध' में बाधा है और उसी प्रकार 'लहरों के राजहंस' से नन्द के व्यक्तित्व को भी ठीक उन्हीं कोमल अस्थिर और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित स्थितियों से गुजारा है । इस दृष्टि से आषाढ़ का एक दिन वास्तव में लहरों के राजहंस का ही प्रारूप एवं अंग है 'आषाढ़ का एक दिन' के 'विलोम' की तरह 'लहरों के राहजंस' का श्यामांग भी इसी कारण उखाड़ा हुआ होने पर भी अधिक संयोजित प्रतीत होता है ।

मूल बात है कलाकार और कलाप्रेमी का युग युगान्तरों का अन्तर्द्वन्द्व, उसे सफलता के साथ 'आषाढ़ का एक दिन' में रूपायित किया गया है । अन्तर्द्वन्द्व और उसका उत्पीड़न व्यक्ति को सफल बनाता है या असफल, यह अलग बात है पर नाटक को समझने के लिए तथ्यों पर ध्यान रखना आवश्यक है । उसका रोमांस भी अन्तर्द्वन्द्व के संदर्भ में ही ग्राह्य हो सकता है । उसी दृष्टि से नाटक का कोई भी पात्र अपने मूल रूप में विकृत नहीं कहा जा सकता । पाठक और आलोचक का अपना दृष्टिकोण यदि विसंगति-रहित होगा तभी वह नाटक की प्रतीयमान विसंगतियों में संगति खोज सकता है । वास्तव में 'आषाढ़ का एक दिन' मोहन राकेश की प्रथम कृति होते हुए भी पूर्ण सफल है ।

2. लहरों के राजहंस - लेखनक्रम की दृष्टि से यह मोहन राकेश का दूसरा नाटक है । प्रस्तुत रचना का मूल उद्देश्य इसी का समीक्षात्मक विस्तृत विवेचन करना है, अतः यहाँ उस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा रहा । आगामी पृष्ठों में इसका विस्तृत विवेचन किया जा रहा है ।

3. आधे अधूरे - रचना प्रक्रिया की दृष्टि से यह नाटक मोहन राकेश का तीसरा और अभी तक प्रकाशित अन्तिम नाटक है । विषयवस्तु के चयन की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती दोनों नाटकों से सर्वथा भिन्न है । क्योंकि इसके कथानक का चयन अतीत के किसी इतिहास से न करके, वर्तमान दुरूह तथा वैषम्यपूर्ण जीवन से किया गया है । वर्ण्य-विषय का संबंध एक निम्न-मध्यवित्तीय परिवार की जीवनी-सम्बन्धी स्थितियों और धारणाओं से है । यह स्पष्ट है कि आज के जीवन का किसी भी स्थिति के व्यक्ति या परिवार के सामने किसी निश्चित लक्ष्य को लेकर जीना उद्देश्य

नहीं है । बस, किसी प्रकार जी लेना ओर जहाँ तक संभव हो सके सुखपूर्वक जी लेना ही आज जीवन की समस्त क्रिया-प्रक्रियाओं का प्रत्यय लक्ष्य हो कर रह गया है । इसी कारण विषयवस्तु के रूप में वर्णित परिवार स्वयं में ही दिशाहीन, अनिश्चित एवं निर्लक्ष्य है । उसी का यथातथ्य वर्णन इस नाटक में किया गया है । इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक मोहन राकेश के पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में उतना काव्यतत्त्वों से संयत साहित्यिक नाटक नहीं, जितना कि यथातथ्यवादी-यथार्थ नाटक । इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही 'आधे-अधूरे' का सही मूल्यांकन संभव हो सकता है ।

'आधे-अधूरे' व्यक्ति के निजी आधे-अधूरे व्यक्तित्व का सजीव प्रतीक है । महत्वाकांक्षिणी आधुनिक नारी जीवन के सभी भौतिक सुख-साधनों को संचित करना चाहती है । वह अनवरत चेष्टा करके भी वह सब नहीं जुटा पाता । जुटाने के प्रयत्नों में खर्च आय की तुलना में बढ़ जाता है । असमर्थ पति वह सब नहीं जुटा पाता पत्नी को भी आर्थिक वैषम्यों से संघर्ष करने के लिए - परिवार-पालन के लिए नौकरी का आश्रय लेना पड़ता है । पति की असमर्थता या स्थिति-वैषम्य को उसका अधूरापन मानकर स्वयं अधूरी पत्नी अन्यों में पूर्णता का आभास पाकर उनकी ओर आकर्षित होती है । वह पति का परित्याग भी कर देती है, किन्तु भौतिक इच्छाओं का बढ़ा हुआ जाल- सुख कहाँ ? नाटक में पति-पत्नी-नर-नारी दोनों को व्यभिचार में लिप्त दिखाया गया है, जिसे आधुनिक जीवन का कटु यथार्थ कहा जा सकता है ।

नाटक समस्या-नाटकों के समान जीवन के यथार्थ को उद्घाटित तो करता है, पर उसके आगे मौन रहता है । 'आधे-अधूरे' नाम के अनुरूप इस नाटक का अन्त भी स्वभावत: अधूरा और अस्पष्ट है - इसे हम युग की -युग के अधूरेपन की सहज अनुभूति मान सकते हैं । अत: नाट्यकला की दृष्टि से भी यहाँ का यथार्थ ही प्रतिफलित हुआ है । तकनीकी दृष्टि से यह नाटक एक नया प्रयोग है । क्योंकि इसमें एक मध्यांतर है, उसके आसपास एक ही दृश्य-विधान पर दो अंकों की समूची कथा कही गई है । सम्वाद योजना, भाव-भंगिमा और रंग-संकेतों की दृष्टि से भी यह नाटक समस्या पाठकों के अत्यधिक समीप है । कहीं-कहीं बौद्धिकता और अति आधुनिकता के दर्शन भी होते हैं । युवक पात्र जीवन के यथार्थ के समान ही मुँहफट और ऊल-जलूल बकने वाले प्रतीत होते हैं । नाटककार ने कुछ सर्वथा नवीन प्रयोग भी किए हैं । कुछ आलोचक उन्हें अस्वाभाविक भी मानते हैं । यहाँ नाटककार पर कुछ-कुछ आधुनिक सिनेकला का प्रभाव भी दिखाई देता है ।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार मोहन राकेश का व्यक्तित्व नए-नए साहसिक प्रयोगों पर विश्वास रखता है । वास्तव में उसके ये तीनों नाटक एक ही कड़ी के तीन विभिन्न प्रयोग हैं । इनमें वे कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका उचित मूल्यांकन तो भविष्य में उनकी और सर्जनाएँ आने पर ही संभव हो सकेगा, किन्तु निश्चय ही वे अनेक प्रकार की सफलतामूलक सम्भावनाओं को लेकर निरन्तर निखर रहे हैं ।

मोहन राकेश को 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक पर ललित कला अकादमी और 'आधे-अधूरे पर संगीत नाटक अकादमी से पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं । उनके ये दोनों नाटक भारत तथा विदेशों तक में अनेकश: अभिनीत किए जा चुके हैं । 'आधे-अधूरे' पर तो फिल्म भी बन रही है । अपने जीवन और भविष्य के बारे में उनका विश्वास है कि - ''मेरा भविष्य विशाल समुद्र में एक लम्बी और अनिश्चित यात्रा है ।''

अपनी लेखन-प्रक्रिया के संबंध में उनका विचार है - मैं क्या लिखना चाहता हूँ यह कभी मन में स्पष्ट नहीं रहता, जो कुछ लिख जाता है, वह सब अधूरा या अतिरिक्त लगता है । लिखते हुए लगता है कि एक मकड़ी कागज

पर बेकार का जाला बुन रही है । सिर बायीं तरफ से तिरछा कर लेने से जाला बुनने की शुरूआत हो जाती है, रेशों की तरह कागज पर लकीरें बनने लगती है । पर अन्दर फड़फड़ाते कीड़े को यह जाला नहीं; कुछ और चाहिए, कुछ और - यानी सेक्स !'' और अपने इस कुछ और - 'की पूर्ति के लिए ऊँचा हँसना, लड़कियों को ताकना, फब्तियाँ कसना, आदि कार्य वे क्रिया करते । ये समस्त प्रक्रियाएँ उनके साहित्य में भी देखी जा सकती हैं ।

31.4 अभ्यास के प्रश्न

1. मोहन राकेश के व्यक्तित्व का परिचय दीजिए ।
2. मोहन राकेश के कृतित्व का परिचय दीजिए ।
3. मोहन राकेश के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दीजिए ।

हिन्दी रंगमंच आन्दोलन में मोहन राकेश का योगदान

पाठ संरचना

32.0 उद्देश्य
32.1 परिचय
32.2 मोहन राकेश का योगदान
32.3 अभ्यास के प्रश्न

32.0 उद्देश्य

मोहन राकेश का सारा नाट्य लेखन गहरे रंगानुभव से जुड़ा है । इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि वे अपने समय के अकेले नाटककार हैं जिन्होंने नाट्य लेखन में कलात्मक रंग-तत्त्वों की सही तलाश की है । इस लक्ष्य की उपलब्धि के लिए उन्होंने अपने नाटकों को बार-बार तराशा है । लहरों के राजहंस का पुनर्लेखन इसका एक प्रमाण है । इसका हवाला देते हुए उन्होंने स्वयं उन स्थितियों का उल्लेख किया है जो उन्हें इस नाटक का मंचन के समय के सुप्रसिद्ध नाटक प्रयोक्ता श्यामानन्द जालान के साथ कई दिनों तक झेलनी पड़ी । इस इकाई का उद्देश्य हिन्दी रंगमंच आन्दोलन में मोहन राकेश के योगदान से पाठकों का परिचय कराना है ।

32.1 परिचय

मोहन राकेश रंगमंच को बाहर से 'नया' या आधुनिक रूप देने के बजाय भारतीय परिवेश और रंगधर्मिता के अन्दर से विकसित करने के पक्ष में थे । वे मानते थे कि पश्चिम के रंगमंच पर हमारी निर्भरता 'हमको बन्द गली की ओर' ले जा रही है और 'हम इस बन्द गली में इसलिए पहुँच गए हैं कि हमने किसी गली में मुड़ने की बात सोची ही नहीं । तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने में विकास की एक दिशा है, परन्तु उससे हटकर एक दूसरी दिशा भी है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है । वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानव पक्ष को समृद्ध बनाने की है । अर्थात् न्यूनतम उपकरणों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की ।

32.2 मोहन राकेश का योगदान

भारतीय नाट्यांदोलन के संदर्भ में मोहन राकेश की विशिष्ट भूमिका और उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को रेखांकित करने वाले ये शब्द आधुनिक भारतीय रंगांदोलन के प्रमुख आधार-स्तंभ एवं हमारे समय के शीर्षस्थ रंगशिल्पी

इब्राहिम अल्काजी के हैं । यह कहना तो अतिशयोक्ति ही होगी कि राकेश से पहले हिन्दी में श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे ही नहीं गए । भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाट्य लेखन एवं रंगकर्म ने आधुनिक हिन्दी रंगमंच की समर्थ और सही शुरूआत की थी । जयशंकर प्रसाद के नाटकों ने इस विधा को काव्यात्मकता, दार्शनिकता और कलात्मकता देकर नई गरिमा एवं प्रतिष्ठा प्रदान की । लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इसे समयकालीन यथार्थ से जोड़कर सामान्य सामान्य व्यक्ति की समस्याओं के चित्रण का माध्यम बनाया । आजादी के बाद जगदीश चंद्र माथुर तथा धर्मवीर भारती के 'कोणार्क' एवं 'अंधा युग' जैसी महत्त्वपूर्ण नाट्यकृतियों का प्रकाशन भी राकेश के आगमन से पूर्व हो चुका था और मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष संबंधों के विश्लेषण-विवेचन की दृष्टि से भी भुवनेश्वर, उपेंद्रनाथ अश्क और लक्ष्मीनारायण लाल का कृतित्व भी सामने आ चुका था । परंतु वास्तविकता यह है कि इस सबके बावजूद जून, 1958 में प्रकाशित मोहन राकेश का नाटक आषाढ़ का एक दिन आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच के नए आंदोलन के श्रीगणेश का सबसे पहला, विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण प्रमाण है । भारतेन्दु ने प्राचीन और नवीन के साथ अपने समसामयिक पारसी थियेटर की रंग-रूढ़ियों का प्रयोग करते हुए बेशक एक अच्छी शुरूआत की थी । लेकिन प्रसाद के अलगाववादी दृष्टिकोण तथा उनके महान् साहित्यिक नाटकों के कारण हिन्दी रंगमंच की यह धारा वहीं अवरूद्ध होकर रह गई । लक्ष्मीनारायण मिश्र के नर-नारी सम्बन्धों की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने वाले समस्या-नाटक सतही स्थितियों, निर्जीव चरित्रों, गतिहीन-कृत्रिम सम्वादों तथा रंगमंच के आंतरिक काव्य से रहित होने के कारण अरंगमंचीय एवं प्रभावहीन सिद्ध हुए । भुवनेश्वर के नाटक पाश्चात्य नाट्य-रचनाओं के प्रभाव से आक्रांत होने तथा अपने समय से काफी आगे की समस्याओं के चित्रण के कारण उपेक्षित रह गए तथा ''उपेन्द्रनाथ अश्क और जगदीशचंद्र माथुर ने, विशेषकर जगदीशचंद्र माथुर ने, नाटक में सहज स्वाभाविकता और नाटकीयता के जिस मिश्रण का सूत्रपात किया, उसकी महत्त्वपूर्ण परिणति 'आषाढ़ का एक दिन' में हुई (है) । अवश्य ही अंधायुग इससे पहले लिखा जा चुका था, पर उसका प्रभाव नाटक और रंगमंच पर बहुत कम पड़ा और पड़ा भी तो कुछ बाद में ही दृष्टिगोचर हुआ ।'' ज्ञातव्य है कि 'अंधा युग' का पहला प्रस्तुतीकरण 'थियेटर यूनिट' बम्बई द्वारा सत्यदेव दुबे के निर्देशन में दिसम्बर, 1962 में हुआ था ।

निश्चय ही 'अंधायुग' ने भारतीय रंग-परिदृश्य में हिंदी नाटक एवं रंगमंच को उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है, परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि संवेदनशील दृष्टि, अतीतोन्मुखी कथानक एवं चरित्रों के आधुनिक उपयोग, कथ्य और शिल्प की प्रभावी अन्विति, नाट्य भाषा की तलाश, पात्रों की आंतरिकता से अद्भुत स्वाभाविक एवं विश्वसनीय सम्वाद-लय की उपलब्धि, दार्शनिकता, काव्यात्मकता तथा प्रतीकमयता के नाटकीय इस्तेमाल जैसी अनेक विशेषताओं के कारण 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' ने हिन्दी नाट्य लेखन और रंगकर्म को गम्भीर, दायित्वपूर्ण, सांस्कृतिक, कलात्मक और महत्त्वपूर्ण रचनात्मक क्रियाकलाप के रूप में व्यापक स्वीकृति दिलाने, राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित कराने तथा अपने वैविध्यपूर्ण बहुसंख्यक प्रस्तुतियों से नए हिन्दी रंगांदोलन को दो-चार महानगरों के सीमित दायरे से आगे बढ़ाकर छोटे-बड़े नगरों एवं कस्बों तक फैलाने की दृष्टि से एक निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया है । 'आषाढ़ का एक दिन' लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे और पैर तले जमीन के अब तक लगभग डेढ़ सौ से भी अधिक प्रस्तुतीकरण और बेशुमार प्रदर्शन हो चुके हैं और अंग्रेजी, असमिया, कन्नड़, मराठी, गुजराती, पंजाबी तथा मणिपुरी जैसी अन्य भाषाओं में भी इनकी छत्तीस से भी अधिक प्रस्तुतियों का होना, हिंदी रंगमंच की वर्तमान स्थिति को देखते हुए, एक गौरवमय कीर्तिमान है ।

बे० व० कारंत की धारणा है कि ''अल्काजी द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' से पहले हिन्दी रंगमंच था

ही नहीं ।'' अत: स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' न केवल इस क्षेत्र में व्यापक साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक जैसे भ्रामक एवं गलत वर्गीकरण को तोड़कर एक सार्थक रंग-परम्परा का सूत्रपात करता है बल्कि स्वयं को इसकी श्रेष्ठतम उपलब्धियों में से एक ऐसी महत्त्वपूर्ण रचना भी सिद्ध करता है जिसने गम्भीर हिन्दी रंगकर्म को कई स्तरों पर प्रभावित करके व्यस्क बनाया ।

1963 में प्रकाशित 'लहरों के राजहंस' ने 'आषाढ़ का एक दिन' जैसी अभूतपूर्व सफलता भले ही न पाई हो किंतु इसने हिन्दी नाट्य-परम्परा को समृद्ध और रंगांदोलन को तीव्र करने में अपनी उल्लेखनीय भूमिका अवश्य निभाई है । 1968 में इसके परिवर्तित रूप की लेखन-प्रक्रिया ने नाटककार और निर्देशक के रचनात्मक सहयोग एवं रंग-सृष्टि में उनकी अन्योन्याश्रित भूमिका की सीमा और शक्ति को भी व्यावहारिक एवं प्रामाणिक स्तर पर रेखांकित किया ।

इसके बाद, 1969 में बहुचर्चित आधे-अधूरे सामने आया, जिसने रंगमंच, रेडियो, दूरदर्शन और सिनेमा-सभी प्रस्तुति-माध्यमों पर अपनी अपार सफलता तथा प्रशंसा के द्वारा हिन्दी रंगांदोलन को एक नया स्तर एवं उत्कर्ष प्रदान किया । इसके देशव्यापी बहुसंख्य नाट्य-प्रदर्शनों ने जहाँ एक ओर शौकिया रंगमंच को विस्तार दिया वहीं दूसरी ओर प्रशिक्षित कलाकारों के लिए नियमित, अर्द्धव्यावसायिक अथवा व्यावसायिक रंगमंच की सम्भावना के द्वार खोल दिए । यह आकस्मिक नहीं है कि दिल्ली की नाट्य-संस्था 'दिशांतर' तथा कलकत्ता की 'अनामिका' ने अपने 'सप्ताहांत रंगमंच' और 'नियमित नाट्य प्रदर्शन' के महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रमों का शुभारंभ राकेश के 'आधे-अधूरे' से ही किया । दिल्ली दूरदर्शन से नाट्य-प्रदर्शन की एक नई शृंखला 'थियेटर टुडे' का श्रीगणेश भी इसी नाटक से हुआ और आज तक समकालीन श्रेष्ठ, गम्भीर एवं सार्थक भारतीय नाट्य-रचनाओं में यह हिन्दी का सर्वाधिक मंचित, चर्चित और प्रशंसित नाटक बना हुआ है । हिन्दी रंगक्षेत्र के एक बहुत बड़े दर्शक-वर्ग ने, 'आधे-अधूरे' से ही नाटक देखना शुरू किया । हिन्दी रंगमंच पर 'आधे-अधूरे' ही शायद हिन्दी का एकमात्र मौलिक नाटक है जो सबसे ज्यादा खेला गया और पसंद किया गया । इसने साहित्यिक और रंगमंचीय नाटक के भ्रामक अंतर को पूरी तरह मिटा दिया ।

पार्श्व-नाटक छतरियाँ (मैड डिलाइट), बीज-नाटक शायद और हं: । तथा बहुत बड़ा सवाल जैसे अपने अन्य प्रयोगधर्मी छोटे नाटकों के माध्यम से राकेश ने प्रशिक्षण तथा रंग-शिविरों के नवोदित एवं उत्साही कलाकारों में नयी सम्वेदना तथा समग्र रंग-दृष्टि के प्रसार का महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाया ।

इसी प्रकार, बम्बई की व्यावसायिक फार्मूला फिल्मों के अटूट एवं सुदृढ़ ढाँचे के समानांतर नई और कला फिल्मों के सार्थक आंदोलन की शुरूआत का श्रेय भी राकेश की रचनाओं पर बनी उसकी रोटी तथा आषाढ़ का एक दिन जैसी फिल्मों को दिया जाता है । बी० के० करंजिया के शब्दों में, ''जिस तरह मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' ने भारतीय रंगमंच पर नई लहर के नाटकों का सिलसिला प्रारंभ किया, वही काम 'उसकी रोटी' और 'आषाढ़ का एक दिन' ने लगातार दो वर्ष क्रिटिक्स अवार्ड जीते ।'' रेडियो तथा दूरदर्शन पर नाटक को लोकप्रिय एवं समृद्ध बनाने में मोहन राकेश के योगदान को नकारा नहीं जा सकता । 'कहानी का रंगमंच' नामक अपेक्षाकृत नए रंग-प्रयोगों के क्षेत्र में भी राकेश की अपरिचित, परमात्मा का कुत्ता, मलबे का मालिक, मिस पाल तथा एक और जिंदगी जैसी कहानियों ने एक उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है ।

विजंस 1919 के द्वारा राकेश ने नाट्य-लेखन के एक मौलिक तथा नए आयाम का उद्घाटन किया । जलियाँवाला बाग के नृशंस हत्याकांड पर आधारित ध्वनि, प्रकाश और अभिनेता के सहयोग से अमृतसर में 14 अप्रैल, 1969 को प्रस्तुत राकेश और इस अभिनव प्रथम रंग-प्रयोग की एक लम्बी परंपरा आज तक चली आ रही है ।

यह सत्य है कि साहित्यकार के रूप में मोहन राकेश को स्वीकृति और प्रतिष्ठा पहले नए कहानीकार के रूप में ही मिली । वह समकालीन हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख कथाकार हैं । परंतु जैसा कि डॉ० इंद्रनाथ मदान का मत है, ''राकेश पहले भी नाटककार हैं और अंत में भी नाटककार ही हैं ।'' अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल और अन्तराल में ही नहीं बल्कि एक और जिंदगी, सुहागिनें, अपरिचित, चौगान, खाली, मिस पाल, फौलाद का आकाश, सेफ्टी पिन और आखिरी सामान जैसी अनेक कहानियों में भी व्यक्त मानवीय सम्बन्धों की जटिलता, स्थितियों की नाटकीय विडम्बना, चरित्रों की अस्थिरता एवं अनिश्चितता, पूर्ण विभाजित मानसिकता, नियतिवाद की स्वीकृति, अंतरंग, अनौपचारिक तथा आत्मीय भाषा की तलाश, बोलचाल की विश्वसनीय लय और समय के साथ टूटते-बदलते मूल्यों की पहचान जैसी विशेषताएँ उनके कथा-लेखन को नाट्य-लेखन के पूर्वाभास-सा सिद्ध करने लगती हैं । राकेश ने बहुत जल्दी नाटक को आज की केंद्रीय एवं सर्वाधिक सशक्त विधा के रूप में स्वीकार कर लिया और पूर्ववर्ती लेखन से प्राप्त औजारों का अत्यंत कुशल एवं प्रभावी प्रयोग अपने नाट्य-लेखन में किया । उन्होंने रंगमंच के माध्यम, व्याकरण तथा मुहावरे को समझने और उस समझ को सर्जनात्मक रूप में इस्तेमाल करने की प्रक्रिया को अपनी जीवन-प्रक्रिया ही बना लिया था ।

मोहन राकेश को प्राय: केवल मध्यवर्ग के तंग दायरे में भटकने वाला आत्मसीमित लेखक कहकर उनके योगदान एवं प्रभाव को कम करने की कोशिश की गई है । लेकिन वास्तविकता यह है कि ''इस देश के वासी भले ही वह शहरी हों, कस्बे के हों या फिर देहात के ही क्यों न हों, या कि निम्न, मध्य या उच्च वर्ग के हों, सभी पूर्णतया मध्यवर्गीय बनते जा रहे हैं ।'' और इसीलिए राकेश का यह तर्क अपनी जगह सही प्रतीत होता है कि, ''अगर हमारी पूरी आसपास की जिंदगी इस मध्यवर्गीय प्रवृत्ति को लिए हुए है तो मैं नहीं समझता कि हम इससे हटकर कुछ और भी लिख सकते हैं । इसलिए इसका अर्थ यह भी हुआ कि इस प्रकार का लेखन केवल एक ही वर्ग तक सीमित नहीं है, कहिए पूरे देश की मनोवृत्ति को लेकर ही लिखा जा रहा है ।'' सम्भवत: यही कारण है कि विश्वसनीयता, प्रामाणिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से, कुछेक अपवादों को छोड़कर, प्राय: हमारी सभी अथवा अधिकांश आधुनिक श्रेष्ठ नाट्य रचनाएँ मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को ही अलग-अलग कोणों तथा धरातलों से उद्घाटित करने का प्रयास करती हैं । यह सत्य है कि 1975-76 के आसपास भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में भारी परिवर्तन आया है और उसका स्पष्ट प्रभाव समकालीन लेखन और रंगमंच पर भी पड़ा ही है । प्रतिबद्ध रंगमंच और मंच-मुक्त नाटकों की बढ़ती हुई लोकप्रियता इसका स्पष्ट प्रमाण है । परंतु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि जीवन, साहित्य और कला की इन बदलती हुई परिस्थितियों के बावजूद, राकेश के नाटकों की लोकप्रियता में कोई बुनियादी अंतर नहीं आया है । पिछले बाईस-तेईस वर्षों में विभिन्न नगरों और भाषाओं में होने वाले राकेश के नाटकों के बहुसंख्य प्रस्तुतीकरणों के अलावा 1992 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल द्वारा आयोजित 'मोहन राकेश नाट्य समारोह' के दिल्ली, मॉरीशस, कलकत्ता इत्यादि में अपार दर्शकों द्वारा किए गए स्वागत ने एक ओर इन नाटकों की समकालीन लोकप्रियता एवं स्वीकृति पर पुन: मोहर लगाई है तो दूसरी ओर नए निर्देशकों की इन मौलिक-नई व्याख्या वाली प्रस्तुतियों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि राकेश के इन नाटकों में समय के साथ चलने की अद्भुत क्षमता/सम्भावना भी निहित है । अत: डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का मोहन राकेश के संदर्भ में यह कथन पूर्वाग्रह-युक्त ही नहीं बल्कि सरासर गलत भी है कि ''नाटक लिखकर वे पब्लिक रिलेशन बहुत करने लगते थे । इससे जब तक वे जीवित रहे तब तक उनका नाटक खूब खेला गया किंतु बाद में कोई पूछनेवाला नहीं, क्योंकि पब्लिक रिलेशन गायब हो गया ।''

इस संदर्भ में तथ्य यह है कि मुझे प्राप्त सूचनाओं के अनुसार राकेश की मृत्यु के बाद किए गए उनके नाटकों के प्रस्तुतीकरणों की संख्या उनके जीते-जी हुए प्रदर्शनों के मुकाबले चार गुना से भी ज्यादा है । यही नहीं, 'छतरियाँ', के शिमला वर्कशॉप के प्रयोगों के अतिरिक्त इक्कीस अन्य प्रस्तुतीकरण हुए हैं और ये सबके सब राकेश की मृत्यु के बाद ही किए गए हैं । 'बहुत बड़ा सवाल', 'शायद और हैं' तथा उनके अन्य एकांकियों के बहुसंख्य सभी प्रदर्शन नाटककार की चिर-अनुपस्थिति में ही हुए हैं । इसलिए सुप्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन के शब्दों में सच तो यह है कि ''कई ऐतिहासिक कारणों से हिंदी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में राकेश 'मील का पत्थर' बन गए और दिलचस्प बात यह है कि आज दस वर्ष बाद भी स्थिति में कोई अंतर नहीं आया है ।'' और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उक्त कथन में 'दस' की जगह 'पच्चीस-तीस' कर देने से भी इसकी सत्यता में कोई अन्तर नहीं आएगा ।

मोहन राकेश ने व्यापक स्तर पर हिन्दी-नाट्य लेखन को प्रभावित किया है । राकेश के बाद यदि सर्वाधिक गंभीर, श्रेष्ठ और प्रभावशाली किसी एक हिन्दी नाटककार का नाम लिया जा सकता है तो वह है -सुरेन्द्र वर्मा । यह संयोग नहीं है कि वह राकेश से कई स्तरों पर प्रभावित हैं और उन्हें कई बार राकेश की मानस-संतान तक कह दिया जाता है । सुरेंद्र वर्मा के नाटक सेतु संघ तथा आठवाँ सर्ग, 'आषाढ़ का एक दिन' तथा सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, 'लहरों के राजहंस' की याद दिलाने वाली रचनाएँ हैं तो द्रौपदी एकदम 'आधे-अधूरे' का ही उतरा हुआ आक्रामक रूप है । राकेश मरते समय सरदार पटेल तथा जवाहरलाल नेहरू को ध्यान में रखकर ऐतिहासिक परिवेश के आधुनिक राजनीतिक नाटक चाणक्य तथा चंद्रगुप्त (सम्भावित नाम की तैयारी में लगे थे तो सुरेंद्र वर्मा का बड़ा नाटक छोटे सैयद बड़े सैयद भी उत्तर मुगलकाल के बहाने से समकालीन राजनीतिक उथल-पुथल को पेश करता है । कथ्य, परिवेश, शैली, शिल्प, भाषा, सम्वाद, सौंदर्यबोध और समस्या की दृष्टि से हिंदी के ये दोनों नाटककार, कई स्पष्ट एवं प्रकट असमानताओं के बावजूद, एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं । यही नहीं 1972 से 75-76 के बीच का सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य-लेखन राकेश के 'आधे-अधूरे' की छाया से बुरी तरह आक्रांत रहा है । डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का कर्फ्यू, उपेंद्रनाथ अश्क का लौटता हुआ दिन, रमेश बक्षी का देवयानी का कहना है, मुद्राराक्षस का तिलचट्टा और तेंदुआ, शांति मेहरोत्रा का एक और दिन तथा ठहरा हुआ पानी, शोभना सिद्दीकी का शायद हाँ, मृदुला गर्ग का 'एक और अजनबी' इत्यादि तथा कुछ और बाद में लिखे गए नंदकिशोर आचार्य के देहांतर तथा हस्तिनापुर और त्रिपुरारी शर्मा के रेशमी रूमाल जैसे नाटक स्पष्टतः राकेश परम्परा के ही नाटक हैं । इसी प्रकार 'सगुन पंछी' और 'व्यक्तिगत' (लाल), 'सम्भोग से संन्यास तक' तथा 'अप्रत्याशित' (सत्यदेव दुबे), 'अरे मायावी सरोवर', रक्तबीज (शंकर शेष), 'चार यारों की यार' (सुशील कुमार सिंह), गुफाएँ (मुद्राराक्षस), 'कृति-विकृति' (नाग बोडस), 'चारपाई' (रामेश्वर प्रेम) तथा सुरेन्द्र वर्मा और रमेश बक्षी के अनेक छोटे नाटकों पर भी कमोबेश उस असर को देखा जा सकता है । हिंदी में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के शाश्वत प्रश्न की अलग-अलग कोणों से की जाने वाली गहरी, सूक्ष्म और गम्भीर छानबीन की कोशिश के मूल में कहीं-न-कहीं राकेश के नाटक ही विद्यमान रहे हैं । दिलचस्प तथ्य यह है कि उस दौर में लिखे गए गिरीश कर्नाड के 'ययाति' तथा 'हयवदन' (कन्नड़) बादल सरकार के 'सारी रात' और 'पगला घोड़ा' (बंगला), तथा विजय तेंडुलकर, चि० त्र्यं खानोलकर, महेश एलकुंचवार, अच्युत बझे और सतीश आलेकर जैसे मराठी नाटककारों के बहुसंख्य नाटक भी मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और बदलते हुए इन्सानी रिश्तों की कशमकश के ही नाटक हैं ।

भाषा, सम्वाद और रंग-शिल्प के स्तर से भी राकेश ने हिन्दी नाटक को एक नई जागरूकता और चेतना प्रदान की है । यद्यपि इस दिशा में राकेश की तलाश और उपलब्धि को आगे बढ़ाने का बुनियादी और कठिन काम सुरेन्द्र

वर्मा और किसी हद तक नंदकिशोर आचार्य को छोड़कर किसी दूसरे नाटककार ने नहीं किया, फिर भी नाटककारों की मानसिकता पर किसी-न-किसी रूप में उसका परोक्ष प्रभाव तो पड़ा ही है ।

मोहन राकेश एक सम्पूर्णतावादी (परफैक्शनिस्ट) नाटककार थे । उन्होंने दूसरों के तो क्या स्वयं अपने ही आजमाए हुए नुक्तों और सफल नुस्खों का सदैव बहिष्कार करके मौलिक रचनात्मक लेखन का कठिन किंतु सही रास्ता अपनाया । यह उनके इस दृष्टिकोण और आत्म-निषेध की जबरदस्त शक्ति का ही परिणाम है कि वह अपने प्रत्येक नाटक के कई-कई प्रारूप तैयार करने के बाद ही उसे अंतिम रूप देते थे और अपने जीवनकाल में केवल तीन नाटकों की रचना कर सके । उन्होंने शीर्षस्थ निर्देशकों और महत्त्वपूर्ण नाट्य-दलों के साथ मिलकर भी काम किया, किन्तु रचना-सृष्टि की दृष्टि से उन्होंने अपनी जमीन और अपना मोर्चा कभी नहीं छोड़ा । किसी भी आकर्षण या लालच में आकर, लेखकीय स्तर पर, कभी कोई समझौता नहीं किया । उन्होंने शिमला वर्कशॉप में प्रयोग के ही विशिष्ट उद्देश्य से लिखित 'छतरियाँ' को छोड़कर नाट्य-निर्देशकों की अहंपूर्ति, प्रयोग एवं सुविधा के लिए नाट्यालेखों के ब्लूप्रिंट तैयार न करके अपने आप में सम्पूर्ण और सघन नाटकों की रचना की । वह फिल्म को मूलतः दृश्य और रंगमंच को श्रव्य माध्यम मानते थे, शायद इसीलिए उनके नाटकों में मंचीय सफलता और प्रदर्शनीयता के साथ-साथ साहित्यिकता और पठनीयता का विलक्षण गुण भी विद्यमान है । उनके नाटकों में इन दोनों विशेषताओं का अद्‌भुत सामंजस्य हुआ है । नाटक को पाठ्य भी मानने का ही यह परिणाम है कि उनके नाटकों के संवादों और रंग-निर्देशों की भाषा में कोई अंतर नहीं है-। 'आषाढ़ का एक दिन' प्रथम और विशिष्ट संस्करणों के रंग-निर्देशों की भाषा में मौजूद शब्द-प्रयोग की मितव्ययता और उसकी प्रभावी तराश का अंतर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । संभवतः यही कारण है कि उनके नाटकों को देखते या सुनते हुए ही नहीं, पढ़ते हुए भी - बीच में छोड़ना बहुत कठिन और कष्टकर प्रतीत होता है । रंगकर्मियों के साथ-साथ विश्वविद्यालयों में भी राकेश के नाटकों की व्यापक लोकप्रियता का यही मुख्य और मूल कारण है ।

हिंदी नाटक के साथ-साथ हिंदी रंगमंच को भी विकसित, विस्तृत, समृद्ध और प्रतिष्ठित करने के महत्त्वपूर्ण कार्य में राकेश ने उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया है ।

देश के शीर्षस्थ रंगर्मियों एवं विद्वानों-कलाकारों से राकेश के घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध थे । परंतु कम लोग जानते हैं कि इन सम्बन्धों की शुरूआत उनके कृतित्व-विशेषतः 'आषाढ़ का एक दिन'- से व्यक्तिगत तक पहुँची थी । राकेश एक जिंदादिल और आत्मसम्मानी व्यक्ति थे । वह सम्बन्ध बनाना और निभाना जानते थे । भीतर से अकेले और उदास होने के बावजूद बाहर से राकेश ने स्वयं को सदैव दबंग, लड़ाकू और हठी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करके हिंदी के लेखक और नाटककार को सम्मान एवं उत्कर्ष दिलाया । उनकी यह लड़ाई व्यक्ति के लिए नहीं, अपने वर्ग के लिए थी । राकेश ने प्रचलित और स्वीकृत को मानने के बजाए नई अपेक्षाओं और शर्तों की सृष्टि की । उन्हीं के शब्दों में, "जब भी मैं अपने पूरे सीने का जोर लगाकर इन अधिकारों के लिए लड़ता हूँ तो केवल अपने अकेले के लिए ही नहीं । मैंने यह लड़ाई सिर्फ इसलिए तो शुरू नहीं की है कि इसका लाभ सिर्फ अकेले ही मुझको मिले । .. मैं सम्भवतः इस विषय में थोड़ा-बहुत कर सका हूँ । कुछ जगह परिवर्तन आया है । उदाहरण के लिए 10 वर्ष पूर्व एक कहानी के लिए 25 रूपए दिए जाते थे, और 40 से ऊपर कभी नहीं । आज इसके लिए 250 दिया जाता है । यह सब अपने आप ही नहीं हो गया ।" स्पष्ट है कि राकेश ने यदि आने-जाने के लिए हवाई जहाज के किराए की मांग की, रायल्टी की सम्मानजनक दर मांगी और न मिलने पर वकीलों के नोटिस दिलवाए, वैचारिक मतभेद पर

आत्मसम्मानी योद्धा की तरह हमेशा लड़ने को कटिबद्ध रहे, समय की पाबंदी न होने पर मोरारजी देसाई और अज्ञेय से भिड़ गए, जरूरत पड़ने पर बड़े-बड़े सम्मेलनों और सेमिनारों से वाकआउट कर गए, किसी भी स्थान से कभी भी त्यागपत्र देने को सदैव तैयार रहे, अपनी प्रतिष्ठा को संकट में डालकर भी लेखकीय मर्यादा की सदैव रक्षा की । डॉ० सुरेश अवस्थी के शब्दों में, ''राकेश केवल नाटक ही नहीं लिख रहे थे, वे रंगमंच के क्रियाकलाप में पूरी तरह से जुटे हुए थे, और हिंदी के नए रंगमंच के आंदोलन में उनका योगदान केवल नाटककार के रूप में ही नहीं है ।'' रंगमंच से उनकी सम्बद्धता प्रत्यक्ष और बहुस्तरीय थी ।

मोहन राकेश के नाटकों के महत्त्व तथा उनके योगदान का कुछ अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि आधुनिक हिंदी रंगमंच का शायद ही कोई जागरूक और सक्रिय नाट्य-दल तथा महत्त्वपूर्ण भारतीय नाट्य निर्देशक होगा जिसने राकेश का कोई न कोई नाटक प्रस्तुत न किया हो ।

राकेश के नाटक आत्मपरक हैं; उनका अनुभव क्षेत्र और चरित्र संसार सीमित है; उनका स्त्री-विषयक दृष्टिकोण मध्ययुगीन है; वह प्राय: अपने रोमानी और बौद्धिक आग्रहों में संतुलन नहीं बैठा पाते; उन्होंने कोई बड़ा या मौलिक शिल्पगत प्रयोग नहीं किया; उनके नाटकों का तीसरा अंक समान रूप से शब्द बहुल और कमजोर है; वह अत्यधिक रंग-निर्देशों के द्वारा अभिनेता और निर्देशक को अकारण ही जकड़ने की कोशिश करते हैं; उनके नाटक नियतिवादी हैं; अंत अनिश्चित एवं निराशाजनक हैं और वे अपने पाठकों-दर्शकों को कोई दिशा नहीं देते तथा बदले हुए जीवन एवं मंच की जरूरतों को पूरा करने में असमर्थ हैं—जैसे राकेश और उनके नाटकों पर लगाए जानेवाले अनेक आरोप अपने आपमें गलत न होते हुए भी सच की सिर्फ अधूरी तस्वीर ही पेश करते हैं । इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सब कमियों और सीमाओं के बावजूद राकेश ने अपने साढ़े तीन नाटकों से जो उपलब्ध किया है और उनके देशव्यापी बहुसंख्य प्रदर्शनों ने हिन्दी रंगान्दोलन की गति को तीव्र करने में जो योगदान किया है-वह अद्वितीय है । डॉ० सुरेश अवस्थी के अनुसार, ''उन्होंने अपने नाटकों से हिन्दी में एक नया दर्शक वर्ग तैयार किया और जयशंकर प्रसाद के बाद पहली बार हिन्दी रंगमंच की समर्थता का एहसास कराया ।'' और सुविख्यात रंगकर्मी इब्राहिम अल्काजी का यह कथन भी सही है कि, ''भारतीय रंगमंच के नए युग की शुरूआत उनके द्वारा ही होती है ।'' यही नहीं राकेश के निधन के दस वर्ष बाद उनके कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन करते हुए वरिष्ठ नाट्य-समीक्षक नेमिचन्द्र जैन की निश्चित निर्भ्रान्त धारणा थी कि ''इस बीच हिन्दी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में हुए वस्तु, शिल्प, शैली और प्रदर्शन-पद्धतियों के तमाम प्रयोगों के बावजूद सच्चाई यह है कि हम आज भी राकेश से आगे नहीं जा पाए हैं ।'' और फरवरी 1995 में ब० व० कारन्त ने एक साक्षात्कार में नि:संकोच स्वीकार किया है कि ''राकेश की टक्कर का नाटककार उनके बाद से आज तक हिन्दी ने पैदा ही नहीं किया है ।'' राष्ट्रीय स्तर पर राकेश जैसी प्रतिष्ठा और स्वीकृति किसी हिन्दी नाटककार को नहीं मिली ।

मोहन राकेश को मिलने वाले विविध पुरस्कारों और सम्मानों ने भी हिन्दी नाटक और रंगमंच की गरिमा एवं प्रतिष्ठा बढ़ाने में कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप से अपनी भूमिका निभाई है । 'आषाढ़ का एक दिन' संगीत नाटक अकादमी से सर्वश्रेष्ठ नाटक का पुरस्कार जीतने वाला पहला नाटक था । 'आधे-अधूरे' के बाद संगीत नाटक अकादमी ने नाटककार राकेश को पुन: पुरस्कृत किया । 'दिशांतर' द्वारा प्रस्तुत 'आधे-अधूरे' के अभिमंचन को 'साहित्य कला परिषद्' दिल्ली ने वर्ष के सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुतीकरण का प्रथम पुरस्कार देकर सम्मानित किया । नेहरू फैलोशिप पाने वाले वह हिन्दी के पहले लेखक तथा अब तक के प्रथम और अंतिम नाटककार हैं । उनकी रचनाओं पर बनी दोनो फिल्मों

'उसकी रोटी' तथा 'आषाढ़ का एक दिन' ने लगातार दो वर्षों तक फिल्मफेयर क्रिटिक्स अवार्ड जीते । सेंसर बोर्ड की सदस्यता तथा 'फिल्म वित्त निगम' के निर्देशकत्व का दायित्व भी उन्होंने सफलतापूर्व सँभाला । वह संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'संगीत नाटक' के संपादक मंडल में भी रहे और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी । इनके अतिरिक्त भी वह राष्ट्रीय स्तर की न जाने कितने कमेटियों-संगोष्ठियों और सम्मान-पुरस्कार इत्यादि की समितियों में सदस्य, प्रतिनिधि एवं विशेषज्ञ या निर्णायक की हैसियत से शामिल होते रहे । समकालीन भारतीय नाटक की उपलब्धि को एक साथ रेखांकित करने वाले महत्वाकांक्षी प्रकाशन 'आज के रंग नाटक' तथा 1972 के 'अकादमी थियेटर फेस्टिवल' को मोहन राकेश की स्मृति को समर्पित करके केवल रचनाकार राकेश को ही नहीं मानो सम्पूर्ण हिंदी नाटक और रंगमंच के योगदान को ही सम्मानित किया गया । देश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उनकी याद में प्रकाशित राकेश-विशेषांकों तथा नाट्य संस्थाओं द्वारा आयोजित स्मृति शोक सभाओं, सेमिनारों एवं नाट्य समारोहों ने भी राकेश के व्यक्तित्व और कृतित्व को समग्रता से प्रस्तुत करके उनकी बहुआयामी प्रतिभा का परिचय दिया । 1973 में संगीत कला मंदिर, कलकत्ता ने जनवरी, 1966 से दिसम्बर 1971 के बीच देश की सभी भाषाओं में प्रकाशित अथवा अभिमंचित समस्त नाटकों में से 'आधे-अधूरे' को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे दस हजार रुपए के प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया । नाटक, नाट्य-भाषा और रंगमंच सम्बन्धी स्वयं राकेश के गंभीर लेखों, टिप्पणियों एवं साक्षात्कारों का तो अपना महत्त्व है ही, देश-विदेश में राकेश के नाटकों पर होनेवाले व्यापक शोधकार्य और उन पर लिखी गई अनेक उल्लेखनीय पुस्तकों ने भी नाट्य समीक्षा और अनुसंधान के स्तर को ऊँचा उठाने में उल्लेखनीय योगदान दिया है ।

दोस्त परवर, झगड़ालू, बेहद संवेदनशील, घोर अहंकारी, अध्यवसायी, बेसब्रा, हँसमुख और मिलनसार मोहन राकेश का निजी जीवन उनके साहित्यिक जीवन और कृति-व्यक्तित्व के मूल्यांकन में सदैव आड़े आता रहा है । हिमाचल से कन्याकुमारी तक बिखरे उनके सैंकड़ों मित्रों में लेखक और कला-साहित्य के प्रेमी ही नहीं, अनेक पेशों के लोग भी शामिल हैं । यह सच है कि मैत्रेय राकेश ने बड़ी आस्था, आत्मीयता और सहजता से दोस्तियाँ निभाई हैं किन्तु गलत यह भी नहीं कि दोस्ती करने के मामले में अक्सर यह बड़ा सचेत और व्यवहारकुशल भी रहा है । डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० सुरेन्द्र अवस्थी, डॉ० धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, डॉ० कर्ण सिंह, इन्द्रकुमार गुजराल, नेमिचंद्र जैन, राजिंदर पॉल, ओमप्रकाश, शीला संधू, विश्वनाथ, इब्राहिम अल्काजी, श्यामानंद जालान, सत्यदेव दुबे, ओम शिवपुरी, राजेन्द्रनाथ, बासु भट्टाचार्य, बी० के० करंजिया जैसे व्यक्तियों की मैत्री का भरपूर लाभ भी राकेश ने उठाया ही है और निस्संदेह राकेश को राष्ट्रीय स्तर पर प्रक्षेपित और प्रतिष्ठित करने में इन मित्रों का योगदान कम नहीं है । राकेश के समकालीनों की ईर्ष्या और पीड़ा का प्रमुख कारण यह भी है कि वह उसे साहित्यिक-राजनीतिक अखाड़ेबाजी और गुटबंदी के घटिया स्तर पर भी पराजित नहीं कर सके । राकेश ने बड़े सावधान और सुनियोजित ढंग से अपनी रचनात्मक शक्ति, प्रखर प्रतिभा और नेतृत्वक्षमता का सार्थक इस्तेमाल करके पहले नई कहानी और फिर आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की लहर को आंदोलन का रूप देने में महत्त्वपूर्ण ही नहीं बल्कि निर्णायक भूमिका निभाई ।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के साथ घनिष्ठ एवं निकट सम्बन्ध ने भी राकेश को देशव्यापी नाटककार बनाने में काफी सहायता पहुँचाई । यह एक रोचक और महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि हिन्दी के साथ-साथ अन्य प्रादेशिक भाषाओं में राकेश के नाटकों को अभिमंचित करने वाले नाट्य निर्देशकों में अधिकतर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के स्नातक ही रहे हैं ।

राकेश के आगमन के समय रंगमंच की बागडोर मुख्यत: अंग्रेजीप्रिय अधिकारियों और रंगकर्मियों के हाथों में थी और वे हिन्दी भाषा तथा इसके नाटक दोनों को हेय दृष्टि से देखते थे। मोहन राकेश ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व और 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे श्रेष्ठ कृतित्व के द्वारा इस मिथ्या धारणा को तोड़ा। राकेश के नाटकों ने अंग्रेजी नाटक करनेवाली नाट्य-संस्थाओं को पहली बार तीव्रता से यह एहसास कराया कि हिन्दी में भी कुछ ऐसे नाटक हैं जिन्हें (अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से ही सही) बिना आधुनिक भारतीय रंगमंच की मूल धारा में शामिल होना या उसका अंग बनकर रहना कठिन है। लगभग यही स्थिति मराठी, कन्नड़ और बंगला जैसे अपेक्षाकृत समृद्ध रंग-परम्परा वाले रंगकर्मियों की भी थी। इन भाषाओं में कुछ तो अपनी रंग-समृद्धि और उत्कृष्टता के उच्च-भाव के कारण और कुछ हिन्दी में किसी राष्ट्रीय स्तर के श्रेष्ठ नाटककार के अभाव के कारण हिन्दी का कोई नाटक इन भाषाओं में वंचित नहीं हुआ था, जबकि उस समय का हिन्दी रंगमंच देशी-विदेशी अनुवादों से पटा पड़ा था। राकेश के नाटकों ने पहली बार एक सम्मानपूर्ण आदान-प्रदान की शुरूआत की और उनके नाटक रंगकर्म की दृष्टि से सक्रिय लगभग सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित और मंचित होकर राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित और प्रशंसित हुए। "यह उनके व्यक्तित्व का प्रभाव था मित्रों की साजिश नहीं है कि देश के चार प्रमुख भारतीय नाटककारों में राकेश भी एक हैं। यह उनके कृतित्व की ही शक्ति का स्वाभाविक परिणाम है।" हिन्दी के नए-पुराने सभी नाट्य-लेखकों और रंगकर्मियों के लिए मोहन राकेश का कृतित्व आज भी एक चुनौती बना हुआ है। राकेश ने हिन्दी नाटक, नाटककार और रंगमंच को एक विशिष्ट गरिमा, प्रौढ़ता, प्रतिष्ठा और मर्यादा प्रदान की। हिंदी के नए रंगान्दोलन के उद्‌भव, विकास और उसे समृद्ध करने में राकेश के नाटकों के बहुआयामी बहुसंख्य प्रदर्शनों ने निर्णायक भूमिका निभाई है।

राकेश के नाटक स्वयं रंगकर्मियों को अपनी प्रतिभा और क्षमता परखने के साधन रहे हैं। जिस प्रकार विश्व के लगभग सभी उल्लेखनीय निर्देशक कभी न कभी शेक्सपीयर से जरूर टकराना चाहते हैं और इसी से उन्हें अपनी रंग-सामर्थ्य का प्रमाण मिलता है। ठीक उसी प्रकार हमारे समय में, अपनी तमाम कमियों और सीमाओं के बावजूद, राकेश के नाटकों ने एक रचनात्मक चुनौती प्रस्तुत करके भारतीय रंगकर्मियों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। यही कारण है कि राकेश का नाट्य-व्यक्तित्व आज भी आधुनिक भारतीय रंग-परिदृश्य में एक कालजयी कीर्ति-स्तंभ की तरह अडिग और अटल खड़ा है। कालजयी नाट्य रचना की इच्छा और समय के द्वंद्व में राकेश की इच्छा को ही विजय प्राप्त हुई है।

32.3 अभ्यास के प्रश्न

1. हिन्दी रंगमंच आन्दोलन में मोहन राकेश के योगदान पर निबंध लिखिए।
2. हिन्दी रंगमंच आन्दोलन में मोहन राकेश की क्या भूमिका है ? स्पष्ट कीजिए।

हिन्दी नाटक और मोहन राकेश की रचना दृष्टि

पाठ संरचना

33.0 उद्देश्य
33.1 परिचय
33.2 मोहन राकेश की रचना दृष्टि
33.3 अभ्यास के प्रश्न

33.0 उद्देश्य

मोहन राकेश का पूरा स्वभाव, सोचने का ढंग, कार्य व्यवहार यानी सम्पूर्ण दृष्टि और गति उनके साहित्य में देखी जा सकती है । साहित्य में भी वह किसी निश्चित विचार धारा को लेकर नहीं चलते, न काल्पनिक सड़कों पर आते-जाते किन्हीं अमूर्त आकृतियों से वह अपना वैचारिक सम्बन्ध स्थापित करते चलते हैं । उनका कहना है कि 'किन्हीं बौद्धिक निष्कर्षों या फार्मूलों के आधार पर दो या दो का योग करने से कलाकृति की रचना नहीं होती । उनका मानना है कि रचना का सम्बन्ध, उसका जन्म किसी तीव्र अनुभूति से होनी चाहिए । इस इकाई का उद्देश्य मोहन राकेश के रचना दृष्टि से पाठकों को अवगत कराना है ।

33.1 परिचय

मोहन राकेश को अन्य लेखकों की तरह अपने किन्हीं मानव मूल्यों से मतलब नहीं है । इसलिए 'आधुनिकता', 'समकालीन', प्रयोगात्मक' जैसे शब्द उन्हें अस्थायी सतही लगते हैं । तात्कालिक प्रतिक्रियाओं में उन्हें विश्वास नहीं है, सत्य को ग्रहण करने और स्वीकार करने में हैं । अपने को बहुत स्पष्ट करते हुए मोहन राकेश ने कहा है - 'मैं वैयक्तिक और साहित्यिक दोनों स्तरों पर अपने को जिन्दगी से जुड़ा हुआ पाता हूँ- पर जुड़े होने का अर्थ जिंदगी की सब परिस्थितियों को स्वीकार करने चलना नहीं है । जिन्दगी में बहुत कुछ जिसके प्रति विद्रोह और आक्रोश मेरे मन में है पर वह सब जिन्दगी के ऐतिहासिक उफान के अन्तर्गत आता है । बहुतों में रहने के कारण बहुतों के बीच से पैदा हुआ वह अकेले होने का प्रयत्न बहुतों के साथ अपने सम्बन्ध सूत्र की ही तो उपज है - और इसलिए कदापि वह सम्बन्ध सूत्र से मुक्त नहीं ।

33.2 मोहन राकेश की रचना दृष्टि

राकेश की लगभग सभी कहानियाँ, उपन्यास और नाटक भी इसके प्रमाण हैं कि मनुष्य और जीवन-यथार्थ को उसकी सामाजिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में परखने-आँकने का आग्रह राकेश में बराबर रहा, भले ही उनका

रचना क्षेत्र बहुत व्यापक न हो । एक प्रकार की आयडियालॉजी राकेश की प्रारंभिक कहानियों में जरूर 'व्यंग्य', 'भावुकता' कम और समाप्त होती गई है । उन्हें लगता है कि सामने जिन्दगी की किताब खुली हुई है, जिसके पन्ने अपने आप पलटते जा रहे हैं । सचमुच राकेश ने तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों, बदलते आदमी, बदलते जीवन मूल्यों को जीवन की नई धड़कनों को सुना-जाना, मानव सम्बन्धों को इतना बदलते हुए देखा कि उसके विश्लेषण में अपने को सभी तरह की भ्रान्तियों से, 'भावनाओं', 'आदर्शों' से मुक्त किया । जीवन के बदलते मान-मूल्यों ने राकेश को व्यापक यथार्थ दृष्टि दी । उनकी आस्था भी, अनास्था भी इसी यथार्थ-बोध का परिणाम है । अनुभूति के मार्ग में आने वाला छोटे से छोटा क्षण और मनुष्य उन्हें छूता है-कहानियाँ ही नहीं उनकी डायरी के पृष्ठ भी इसका प्रमाण है कि हर छोटी से छोटी सामान्य घटना, वस्तु, दृश्य या स्थिति को वह कितनी सूक्ष्मता से पकड़ते हैं और सबमें या सबके आधार पर कुछ सार्थक, मानवीय खोजना चाहते हैं चाहे वह लुधियाना स्टेशन की रात हो चाहे शिमला का मिशनरी स्कूल, चाहें आगरे का ताजमहल, चाहे दिल्ली की उत्तेजित सड़कें, या कॉफी हाउस । राकेश के लिए साहित्य में यथार्थ कोई 'नया' प्रकरण नहीं है, वह जड़ भी नहीं है, गतिशील यथार्थ है जो बदलता रहता है समय के साथ-साथ, इसलिए यथार्थ को पकड़ने के लिए अनुभव की परिधि को फैलाना भी जरूरी है । कृति के लिए अनुभव की सर्वोपरि महत्ता को अज्ञेय की तरह राकेश भी मानते हैं । यथार्थ की प्रतिक्रिया से ही तो अनुभूति पैदा होती है । निराला की अनुभूति उनके भोगे हुए यथार्थ के ही कारण है । पन्त बाह्य परिवेश से, जीवन के व्यापक सन्दर्भों से कटे और अंतर्मुखी हैं इसलिए उनमें वह अनुभूति नहीं है इसलिए यह जानना पड़ेगा कि अनुभूति की व्यापकता और गहराई यथार्थ की व्यापक और गहरी पकड़ पर ही निर्भर करती है । जहाँ अनुभव कम होगा वहाँ यथार्थ केवल 'बौद्धिक' रूप में होगा और लेखन उनकी रचना-दृष्टि में उतनी ही अधिक प्रामाणिकता भी आती गई है । यथार्थ की इस पकड़ और प्रामाणिकता के कारण क्रमशः उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी एक परिवर्तन आता गया है- 'आषाढ़ का एक दिन' से लेकर 'छतरियाँ' तक यह रचना दृष्टि स्पष्ट लक्षित होती है । राकेश के लिए कोई भी रचना 'जीवन के परिस्पन्दनों की अभिव्यक्ति है, इसलिए सबसे पहले वह समाज, यथार्थ, पूरा बाहरी परिवेश अपनी चेतना से संपृक्त रखते हैं और किसी न किसी व्यक्ति या चरित्र को अपना माध्यम बनाकर उस समूचे सामाजिक यथार्थ को, अपने युग के मानव के अंतर्द्वन्द्व को, पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं । ऐतिहासिक-पौराणिक कथानकों में भी वह इसी दृष्टि को लेकर चले हैं । छोटे से छोटे बीज नाटकों में भी केवल दो पात्रों के माध्यम से केवल स्त्री पुरुष के सम्बन्धों की विडम्बना को ही नहीं, आज के समाज में व्याकुल मनुष्य, टूटते-बिखरते मानवीय संबंधों से उत्पन्न एक कचोट, बिखराव व्यक्त हो सका है । अपने एक निबन्ध में वह कहते हैं कि 'केवल कुछ मूर्त रूपात्मक आकृतियाँ ही यथार्थ नहीं हैं, उन मूर्त रूपात्मक आकृतियों के ह्रास और विकास का कारण बनती हैं ।' जाहिर है कि यथार्थ को व्यापक दृष्टि से देखा गया है यद्यपि आरंभिक कुछ कहानियों को छोड़कर उन्होंने धीरे-धीरे यथार्थ के चित्रण या परिस्थितियों के चित्रण के आधार पर केवल बाह्य परिवेश और वातावरण को ही मूर्त नहीं करना चाहा, बल्कि उस समाज या व्यवस्था में रहने वाले व्यक्ति के संघर्ष को, घुटन को, उसके निरंतर बदलते जाते दृष्टिकोण को अधिक चित्रित किया-उनके सभी नाटक, बल्कि पूरा साहित्य इसी 'अन्तर्निहित यथार्थ' का सांकेतिक चित्र प्रस्तुत करता है । राकेश का साहित्यिक व्यक्तित्व व्यापक संदर्भों की पकड़ और पहिचान में, समाज में रहते व्यक्ति के अन्तर्मन को सही रूप में जानने और संप्रेषित करने में ही महत्त्वपूर्ण है । वह अपने को लेखक रूप में कहीं भी 'दूसरी इकाईयों से स्वतंत्र और निरपेक्ष मानने को तैयार नहीं है'-'चेतना के स्तर पर हर आदमी अपनी जगह 'एक या अकेला' वहीं है । बोध में वह प्रभावों को समेटता है....प्रभाव संदर्भ है और संदर्भों में आते ही व्यक्ति की चेतना उनसे निर्धारित होने लगती

है । निर्धारित होना ही उसका वास्तविक समय-बोध है इसलिए कथ्य जो भी है, वह किसी अकेले व्यक्ति का नहीं, हमारे समय का है । इसलिए राकेश के नाटकों में, बल्कि पूरे साहित्य में निश्चित आरंभ अंत, एक खास थीम, कथानक का विभाजन, परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण या पात्रों का यथार्थ रूप देखना, उनके साहित्य के प्रति बेईमानी होगी क्योंकि इस तरह के फार्मूलों, वर्गों में वह बाँटा ही नहीं जा सकता । ये सब चीजें बहुत दूसरी हैं । जिस व्यक्ति के लिए वृन्दावन गार्डन की हर चीज का समविभाजित संतुलित होना ही अस्वाभाविक है, उसकी रचना में भी समविभाजन की कल्पना करना निरर्थक होगा । उनके सारे कथा साहित्य और नाटकों में प्रथम चीज है - अनुभव जिसका विस्तार होता गया है । राकेश को भी सूक्ष्म अनुभूतियों, उनके साहित्य में सुने जा सकते हैं । अनुभूति को काफी साफ करते हुए राकेश ने कहा है - 'मेरे लिए अनुभूति का सीधा संबंध मेरे यथार्थ से है और यथार्थ है मेरा समय और परिवेश-व्यक्ति से परिवार परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश । मैं इनमें से किसी एक से कटकर शेष से जुड़ा नहीं रह सकता - अपने पास के संदर्भों से आँख हटाकर दूर के संदर्भों में नहीं जी सकता । चूँकि संदर्भ बदलते रहते हैं, जीवन की संभावनायें भी बढ़ती रहती हैं । अपने परिवेश में जीने वाला व्यक्ति और उस परिवेश की गतिशीलता को महसूस करने वाला व्यक्ति लेखक अपने को कभी दोहराएगा नहीं-राकेश के स्वभाव में वैसे 'दोहराना' है ही नहीं । उसके लिए 'खुशियाँ दोहरायी नहीं जा सकतीं ।' लेकिन जहाँ तक उनके नाटकों का संबंध है उनमें अनुभूति और यथार्थ की प्रधानता होते हुए भी ऐसा जरूर लगता है कि उन्होंने अपने हर नाटक में अपने कुछ खास अनुभवों को कुछ हेर-फेर के साथ दोहराया है । यूँ साहित्य में निरन्तर नवीनता, नए प्रयोग, हर बार भिन्न रूप और नया प्रयत्न राकेश की मौलिकता, विशेषता है लेकिन नवीनता या प्रयोग या रूप बन्ध कहीं से खोजकर लाया नहीं गया है । लेखकों की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ रूचियाँ हुआ करती हैं । कुछ शिल्प को महत्त्व देते हैं, शिल्प के नए-नए प्रयोग ढूँढ लाने में ही रचना की सार्थकता समझते हैं, लेकिन कुछ रचना के आंतरिक सौंदर्य से ही उसके शिल्प को घटित होने देते हैं । राकेश के लिए शिल्प प्रमुख नहीं है । रचना की मांग स्वतः ही उसके फॉर्म को बनाएगी, फॉर्म के आधार पर रचना को गढ़ना नहीं होगा । राकेश के साहित्य को गहराई से पहचानने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी रचना दृष्टि को समझें । 'अनुभव' और 'अन्तर्निहित यथार्थ' उनके लिए जितना मुख्य है, रचनात्मक दृष्टि से कलात्मक या रूपात्मक प्रयोग उतने ही गौण हैं । दूसरी बात यह कि कला, शिल्प, अभिव्यक्ति को वह अनुभूति से नहीं मानते । प्रसाद ने माना ही था कि अनुभूति अगर सुन्दर होगी तो अभिव्यक्ति सुन्दर होती है । राकेश का भी कहना है कि 'कला के शिल्प को कला की वस्तु या कलाकार की अनुभूति से अलग करके देखना भी मुझे गलत लगता है.....क्योंकि अनुभूति का अपना ही एक शिल्प होता है जिसकी अपने माध्यम की सीमाओं में हर कलाकार खोज करता है । हर युग की वास्तविक कला अपने युगकथ्य को अपने में समेटकर चलती है और उसी के अनुसार अपने अन्दर से अपने शिल्प का विकास करती है । इसलिए शिल्प को तराशने या बदलने की बात सवाल बनकर मेरे सामने नहीं आती है यथार्थ और उसकी अनुभूति को उसके अपने शिल्प में व्यक्त करने की बात....जो कि हर एक के लिए हर बार एक नई चुनौती हो सकती है । एक लेखक का शिल्प के संबंध में यह कथन उसके मानसिक विकास, आत्मविश्वास और आंतरिकता की तह तक पहुँचने की कोशिश का उदाहरण है । कलागत मूल्यों को जीवन से अलग मानकर चलना रचना की संभावनाओं को अवरूद्ध कर देना है । यही कारण है कि राकेश ने महज चौंकाने वाले या ध्यान आकर्षित करने वाले या पश्चिमी प्रभाव से आने वाले शिल्प प्रयोग नहीं किए हैं - नाटकों में भी नहीं जैसे कि लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में मिल जाते हैं और न शिल्प का वह दोहराव ही मिलता है जैसा कि प्रसाद के नाटकों में है बल्कि उनका सारा ध्यान रचना के 'आन्तरिक शिल्प' की खोज पर केंद्रित है । अभिव्यक्ति के खतरे

राकेश ने नहीं उठाए हैं । न फॉर्म को, शिल्प को एकदम तोड़ा ही है । हाँ बदला जरूर है लेकिन बदलने की इच्छा से नहीं, रचना की अनिवार्यता से । पूरी रचना में 'अन्तर्ग्रथन' का ही महत्त्व अधिक है, आरोपित दर्शन, विचारों या मूल्यों का नहीं । जहाँ राकेश का स्वभावगत अन्तर्विरोध रास्ते में आया है, वहाँ यह अन्तर्ग्रथन कुछ शिथिल पड़ गया हो, यह और बात है लेकिन दृष्टि उनकी यही है । अनुभूति के आवेश से पैदा होने वाली नयी और सहज अभिव्यक्ति, सहज शिल्प ही उनके साहित्य का सौंदर्य है । अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को सामाजिक प्रक्रियाएँ मानते हुए भी वह अभिव्यक्ति को अनुभूति का ही अनिवार्य परिणाम मानते हैं इसलिए अभिव्यक्ति अनिवार्य होते हुए भी नियंत्रण की मर्यादा की अपेक्षा रखती है । लेखक की सारी कला उस नियंत्रण में ही है लेकिन फिर भी अनुभूति की पूरी तीव्रता में अभिव्यक्ति ही कला की सार्थकता का प्रमाण है । जाहिर है कि अभिव्यक्ति का यह नियंत्रण, कलागत मर्यादा, लेखक की अनुभूति की गहराई और व्यापकता से ही जन्म लेगी । राकेश के सभी नाटकों से यह सत्य उद्घाटित होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, राकेश कहीं भी बहुत वैयक्तिक या प्राइवेट नहीं हैं । अपने विचारों में, चिंतन में, दृष्टि में, अपने आत्मकथनों में, रचनाओं में सभी जगह बहुत स्पष्ट हैं–यहाँ तक कि अपने अस्थिरता, अनिश्चय और अन्तर्विरोधों में भी हैं । यूँ भी उनके लिए 'नरो वा कुंजरो वा' में जिन्दगी जीना हमेशा असंभव ही रहा–यही नहीं, उनकी 'आंतरिक आकुलता' में भी, 'असंतोष' की प्रवृत्ति में भी उनके रचनात्मक शक्ति का निरन्तर विकास लक्षित किया जा सकता है–अधिक से अधिक अर्थयुक्त, संदर्भ से जुड़ा, सूक्ष्म संवेदनाओं से युक्त और भाषा को तराशता हुआ, शब्दों में अर्थ-गूँज पैदा करता हुआ ।

यह सही है कि राकेश ने कई विधाओं में अपने रचना–शक्ति को – कला प्रतिभा को आजमाया । सबसे पहले वह अपनी कहानियों से जाने–पहचाने गए । नाटक उन्होंने बहुत बाद में लिखे लेकिन दृश्य तत्त्व–शब्दों से ही जन्मने वाला दृश्यतत्व उनमें आरंभ से ही था क्योंकि उनकी 'व्यक्तिगत डायरी' के पन्नों में स्थान–स्थान पर इतने नाटकीय बिम्ब और प्रयोग या चित्र हैं–मन:स्थिति के सारे तनाव, प्रश्न–उलझन, सोच को बड़े संकेत से प्रस्तुत करने वाले कि कहीं–कहीं वे उनके नाटकों से भी अधिक व्यंजक, सार्थक और प्रभावपूर्ण लगते हैं यानी यह चेतना उनमें थी ही कि शब्द और बिम्ब के सर्जनात्मक प्रयोग से सजीव दृश्यात्मकता ला सकें और विविध क्रियायें, भाव–भंगिमाएँ भी । जिससे जाहिर हो जाता है कि नाटक जैसी विधा के अनुकूल मानसिकता, मस्तिष्क और भाषा–अधिकार उनके पास था । वैसे भी अपने आरंभिक जीवन से ही अभिनय की रूचि तो थी ही–1945 में अपने निर्देशन में उन्होंने 'वेणीसंहार' नाटक का मंचन भी कराया था । 'आषाढ़ का एक दिन' ने उन्हें हिन्दी के महत्त्वपूर्ण नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित किया तब से लेकर तेरह–चौदह वर्ष के समय में यद्यपि उन्होंने बहुत कम नाटक लिखे जबकि नाटक की एक ऐसी भूमि उनके एक ही नाटक से तैयार हो गयी थी कि उस समय नाट्य–लेखन की प्रेरणा के अवसर अधिक थे लेकिन कुछ तो अपने स्वभाव की जटिलता के कारण, कुछ व्यक्तिगत जीवन के दर्द और संघर्ष के कारण लिखने का मूड बनता ही नहीं था, या जो कहना चाहते थे, कहना मुश्किल या असंभव लगता था क्योंकि अक्सर उन्हें लगा है कि सारी सुन्दरता और सजीवता को अपने में पूरा भर लें या सब तरफ के विस्तार को एक क्षण ही पूरा जी सकें लेकिन ऐसा संभव नहीं होता–'नहीं, हुआ । वह जो चाहा था व्यक्त करना, नहीं हो पाया.....जो बात अचानक मन को छू गयी थी, वह नहीं है...। यह एक ऐसी अन्दरूनी विवशता रही है जो लेखन–प्रक्रिया को जटिल बनाती रहती है । अक्सर कुछ न लिख पाने की थकान और उलझन ने राकेश को बेचैन किया है तभी शायद वह कहते हैं–'वे क्षण जबकि आदमी कुछ भी नहीं कर पाता कुछ भी नहीं सोच पाता, कुछ भी नहीं चाह पाता, जबकि अपना आप रूका सा महसूस होता है...बहते पाने में रहकर भी घने सेवार में उलझा सा, जबकि अपने शक्तियों पर अपना वश नहीं होता जबकि

गति नहीं होती, बहाव नहीं होता, केवल एक कँपकँपी होती है-बेबस कँपकँपी....शायद यह एक बहुत बड़ा कारण है कि उनके नाटकों के रचनाकाल में अन्तराल भी ज्यादा है और उन नाटकों की संख्या भी बहुत कम है । एक दूसरा कारण भी है और वह है नाटक और रंगमंच के प्रति बहुत अधिक सतर्क दृष्टि, जागरूक मन:स्थिति, 'नाटक' में बहुत इन्वाल्वड होना ! यह कहना बिलकुल गलत होगा कि उनकी कल्पना-शक्ति में या सर्जनात्मक चेतना में कोई कमी थी क्योंकि उसका प्रमाण तो उनके नाटक स्वयं हैं जिनमें उनकी चिंतन प्रक्रिया को पहचानना मुश्किल नहीं है । 'भविष्य' के प्रति निरन्तर दृष्टि रखने की और उसे अधिक से अधिक सुविधाजनक बनाकर 'विशिष्ट' वर्ग से 'सामान्य' जनसमूह की ओर लाने की कोशिश वह बराबर कर रहे थे । सिद्धान्त भी वह यह मानते थे कि अच्छे साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए उसका बहुत व्यापक होना, सामान्य जनजीवन के विविध पहलुओं को छूना आवश्यक है । हालाँकि अभी उनके नाटक सामान्य जनजीवन की संवेदनाओं से जुड़ नहीं सके थे लेकिन साथ ही उनके नाटक विशिष्ट और व्यक्तिगत दायरे से बँधे हुए भी नहीं हैं । उनके नए नाट्य प्रयोग इस माने में आश्वस्त करते हैं कि उनका नाटककार अपने सर्जनात्मक क्षमता को बढ़ाने और उसके लिए कुछ अधिक सार्थक माध्यम खोजने के लिए बेचैन था । हो सकता है इस खोज और बेचैनी ने भी उनके नाटकों के रचनाकाल में इतना लम्बा अन्तराल रखा हो । यहाँ यह कहना भी आवश्यक होगा कि राकेश के ये तीनों पूर्ण नाटक (आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे) बहुत बड़ी सर्जनात्मक उपलब्धि हैं, यह बहुत महान नाटक है-ऐसा नहीं है ऐसा उनके बड़े से बड़े समर्थकों ने भी नहीं माना है लेकिन इन नाटकों और उनके नाटककार का हिन्दी नाटक के इतिहास-क्रम में निश्चित रूप से बहुत महत्त्व है । यह मानना पड़ेगा कि सही नाटक और रंगमंच के सर्जनात्मक आन्दोलन की भूमिका यहीं से बनी । नाटक के प्रति पूरा दृष्टिकोण ही राकेश के नाटकों से बदला इसलिए हिन्दी नाटक के संदर्भ में यह शुरूआत विशिष्ट मानी गयी । यह जानी पहचानी बात है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी नाटक में दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व जयशंकर प्रसाद का सामने आया । नाटक के आरंभिक युग में उनके नाटकों की बड़ी देन है-नाट्यकला के मानदंड स्थापित करने की दृष्टि से, नाटक को व्यापक युगीन संदर्भों से जोड़ने के कारण युगीन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए चरित्र सृष्टि के कारण और नाटक को काव्य के निकट ले आने के कारण, लेकिन साथ ही उनके नाटकों की अपनी सीमाएँ भी रहीं । नाटक की शिथिलता और व्यावसायिक पक्ष को हटाकर उसे नई चेतना के धरातल पर लाकर प्रसाद ने नया मोड़ अवश्य दिया पर रंगमंच के अभाव और रंगविरोधी दृष्टि के कारण वह नाटक को जन समाज में अपने पूरे अर्थों में प्रतिष्ठित नहीं कर सके । विशेष रूप से पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया के कारण रंगमंच की कोई निश्चित मानसिक परिकल्पना, दृष्टि या चेतना का न होना, बिखराव, उलझाव और विभिन्न कथा-सूत्रों में संगठन का अभाव पात्रों की भीड़-भाड़ के कारण, अधिकांश पात्रों का को : व्यक्तित्व या अस्तित्व न होने के कारण नाटक और रंगमंच के 'जीवन्त' स्वरूप और सत्ता को ठेस पहुँचाना और अपनी जीवन दृष्टि, काव्य भाषा के बोझ से नाट्य विधा को आतंकित किए रहना-इसमें बहुत सी सीमाओं का कारण तो तत्कालीन परिस्थितियाँ भी हैं लेकिन प्रसाद का अपना व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन भी । जबकि नाटक चूँकि 'साक्षात्कार' कराता है, दृश्य है इसलिए इस विधा में संयम और अनुशासन की कमी किसी भी अंग में खतरनाक सिद्ध हो सकती है । और नाटककार का व्यक्तित्व या कुछ भी अगर आरोपित होगा तो नाटक, रंगमंच और दर्शक एक दूसरे से जुड़ नहीं सकेंगे । प्रसाद की परम्परा वर्षों तक चली और घिसे-पिटे रंगमंचीय फार्मूलों के अतिरिक्त हिन्दी में कोई सर्जनात्मक दृष्टि से खरा नहीं उतरा-यह आरम्भिक सबसे पहले राकेश के नाटकों में ही हुआ । सामान्यत: राकेश को प्रसाद की परम्परा में विकसित होने वाला नाटककार कहा जाता है-'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के आधार पर यह कहा जा सकता है । वैसे ही अपने सम्पूर्ण

साहित्य में राकेश ने प्रचलित परम्परा को, चले आते हुए फॉर्म को कहीं एकदम तोड़ा नहीं है; कला को विकसित किया है नए रूप में, इसीलिए कहानी में उन्हें प्रेमचंद के आगे का कहानीकार और नाटक में, प्रसाद के आगे का नाटककार कहा जाता है । कुछ हद तक यह सही माना जा सकता है । अब जब उनकी नई रचनाएँ भी प्रकाश में आ गई हैं-नाटकों में आधे-अधूरे, बीज नाटक, पार्श्वनाटक और एकांकी तब उनके कृतित्व की 'मौलिकता' और विस्तार, सार्थक प्रयोग की ओर जाती हुई दृष्टि का पूरा बोध होता है । उनमें नाटकों में परम्परा और व्यक्तित्व दोनों का योग है-यह उनकी दृष्टि में रहता भी है लेकिन यदि परम्परा व्यक्तित्व को दबा ले तो रचना में वह गुण नहीं आएगा जो साहित्य में उसे एक विशिष्ट स्थान दे सकता है । व्यक्तित्व का प्रभाव ही उसमें वह गुण ला सकता है और अनुभूति में तीव्रता होने पर यह प्रभाव स्वत: पैदा हो सकता है । हिन्दी नाट्यक्षेत्र में राकेश का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व तो है ही क्योंकि प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक के एक लम्बे गतिरोध को उन्होंने बड़ी सफलता से तोड़ा । बीच में केवल भुवनेश्वर एक नितान्त आधुनिक और रचनात्मक शक्ति से युक्त नाटककार के रूप में दिखाई दिए लेकिन समय ने उनकी शक्ति और उनके 'जीनियस' रूप को उपेक्षित किया वरना शायद राकेश से पहले ही हिन्दी नाटक किसी नितान्त भिन्न भूमि पर पहुँच गया होता लेकिन मौजूदा स्थिति में राकेश ने ही हिन्दी में नई नाटक भूमि का निर्माण किया यद्यपि लक्ष्मीनाराण लाल, ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि के नाटक भी साथ-साथ प्रकाशित और मंचित हो रहे थे लेकिन उनमें वे संभावनाएँ नहीं हैं जो राकेश के नाटकों में हैं । उसके नाटकों की अपनी एक दृढ़ नींव है, नाटक के बदलते मानदंड उनके नाटकों से पहचाने जा सकते हैं-उनके नाटकों में निरन्तर बढ़ती दिखाई देती सर्जनात्मक क्षमता नाटक जैसी विधा को सचमुच एक 'व्यापक, प्रत्यक्ष और रचनात्मक अनुभव' सिद्ध करती है और साथ ही एक संश्लिष्ट जटिल कला भी । इसीलिए उनके नाटकों का अध्ययन करते समय हम चले आते हुए खानों में रचना को बाँट कर नहीं देख सकते । कथानक, चरित्र-चित्रण, भाषा, देशकाल, उद्देश्य आदि वर्गों में विभक्त करना उनकी समूची नाटक-चेतना को ही, सौंदर्य-दृष्टि को ही टुकड़ों में बिखेर देना होगा । रस-योजना जैसी बातें उठाना भी फिजूल होगा । आज की 'साहित्यिक दृष्टि' ही यह नहीं रह गयी है । उसी तरह रंगमंचीयता दिखाने के लिए उनके नाटकों में दृश्यविधान या पात्रों की संख्या आदि स्थूल चर्चाओं से नाटक के मूल में अन्तर्निहित रंग-चेतना को नहीं पहचाना जा सकता । यह ध्यान रखना होगा कि राकेश ने नाटक को दृश्य काव्य मानते हुए भी रंगमंच को मूलत: 'श्रव्य माध्यम' कहा है यानी शब्दों और शब्दों के संयोजन से ही, लय और ध्वनि से ही दृश्यत्व पैदा हो न कि बाह्य और स्थूल उपकरणों से । नाटकीय शब्द की इसी खोज के फलस्वरूप उनके नाटकों में धीरे-धीरे बाह्य उपकरण या दृश्यविधान जैसी चीजें नगण्य होती गयी हैं-यही उनकी 'आन्तरिक शिल्प' की खोज है । रंगमंच की आन्तरिक अपेक्षा को पहचानने-समझने की जितनी कोशिश इस नाटककार में मिलती है वह हिन्दी में दुर्लभ है । यह सही है कि कथानक के स्तर पर उनके नाटक बहुत नया या विशिष्ट या गहन नहीं होते और न उनके सभी नाटकों के अन्दर चरित्र परिकल्पना ही सर्वत्र बहुत या सही मानों में यथार्थ बन पायी है । पात्र-जीवन्त होते हुए भी कभी-कभी उलझे व्यक्तित्व वाले लगते हैं लेकिन यह मानना पड़ेगा कि उनका हर नाटक अपने ऐतिहासिक आवरण में भी आधुनिक जीवन की जटिलता, आज के मनुष्य की पीड़ा और अन्तर्द्वन्द्व को ही अभिव्यक्त करता है और 'अनुभव' और यथार्थ को ही मुख्य आधार बनाता है । राकेश की साहित्यिक दृष्टि संभवत: विषय को किसी कलाकृति में बहुत प्रधानता नहीं देती । विषय के कारण कोई कलाकृति कभी सफल या असफल नहीं होती । पहले के नाटक किसी महत्त्वपूर्ण 'विषय' और लक्ष्य को लेकर चलते थे, उनका सारा ध्यान उस 'विषय' को प्रस्तुत करने, आरंभ, मध्य, विकास, अंत-में या अपने 'लक्ष्य' विशेष तक पहुँचने में केन्द्रित रहता था । इसीलिए उन नाटकों को बँधी हुई दृष्टि से देखना-समझना

आसान काम था । राकेश ने 'अनुभूति की न्यूनता, और अभिव्यक्ति की असमर्थता' को ही कलाकृति की असफलता का मुख्य कारण माना है । इससे एक बात तो स्पष्ट होती ही है कि अपने नाटकों में भी 'अनुभूति तत्त्व' को ही उन्होंने प्रधानता दी है । अनुभूति ही रचना का प्रवाह है । यहीं वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'एक कलाकृति के आन्तरिक गुण की पहचान यह है कि उसमें सम्प्रेषनीयता कितनी है- वह एक अनुभूति को कितनी तीव्रता और कितनी ईमानदारी के साथ संप्रेषित करने में समर्थ हैं.....मात्र संप्रेषणीयता ही कसौटी नहीं, कसौटी है मर्यादागत सम्प्रेषणीयता । नाट्यविधा के संबंध में 'सम्प्रेषणीयता' का प्रश्न और बड़ा हो जाता है क्योंकि यह साक्षात्कार का प्रत्यक्ष माध्यम है । स्पष्ट है कि राकेश ने अनुभूति को प्रमुख मानते हुए भी उसी अभिव्यक्ति को सार्थक माना है जो अपने नियंत्रण में रहकर अनुभूति को उसकी पूरी तीव्रता में अभिव्यक्त कर सके, वास्तविक प्रभाव को पैदा कर सके और यहीं 'सम्प्रेषण अनुभूति के साथ-साथ सम्प्रेषण' का भी महत्त्व हो जाता है । सफल समर्थ अभिव्यक्ति ही लेखक और पाठक, नाटककार और दर्शक के बीच घनिष्ठ संबंध स्थापित कर सकती है । इसी प्रकार की घनिष्ठता का आग्रह और गहरी आत्मीयता आज हर विधा की कसौटी है, रचनाकार की ईमानदारी की पहली पहचान है । राकेश के नाटकों का अध्ययन और आलोचना करने से पहले उन्हीं की बात जान लें 'अनुभूति तो स्वाभाविक प्रक्रिया है ही, परन्तु अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता लाने के लिए बहुत दक्षता और शिल्प के अधिकार की उपेक्षा है और यह स्वाभाविकता ही शायद एक रचना की सबसे बड़ी परीक्षा है । राकेश ने शिल्प के नए प्रयोग तो नहीं किए हैं लेकिन रचना की मांग के अनुसार उनका शिल्प बदला जरूर है । इस स्तर पर उनकी अपनी कमजोरियाँ भी अवश्य हैं ।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि राकेश के नाटकों में उनका अनुभव क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है, न उनके नाटक जनसाधारणोन्मुख कहे जा सकते हैं जैसी कोशिश विजय तेंडुलकर, गिरीश कर्नाड, उत्पल दत्त या ब० व० कारन्त कर रहे हैं । उनके नाटकों में स्थापित व्यवस्था का विरोध हुआ है लेकिन बहुत खुलकर नहीं, बहुत विद्रोहात्मक रूप में नहीं । पूरे यथार्थ से अधिक उनके नाटक आधुनिक मानव के अन्तर्द्वन्द्व की जटिलता के सूक्ष्म स्तरों तक पहुँचने का सार्थक प्रयत्न करते हैं । उन्होंने परिस्थितियों से अधिक उनके प्रभाव से दबे हुए उलझे मनुष्य को चित्रित किया है । जो पक्ष उन्हें विशिष्ट बनाते हैं वह हैं समूचे नाटक में पिरोई हुई रंग-दृष्टि, रंगमंच की सही विस्तृत परिकल्पना और उसका अनिवार्य अंग और कारण नाटकोचित संवाद और सक्रिय सदृश्य भाषा, अभिनय की सूक्ष्मतम स्थितियों का पूरा ध्यान । यहाँ स्थूलता नहीं है, सूक्ष्मता ही है । रंगमंच के लिए सारे उपयोगी तथ्य जैसे उनके मस्तिष्क में स्पष्ट रहते हैं-नाटकीय स्थितियों का चयन, पात्रों की बातचीत का उतार-चढ़ाव, गतियाँ, क्रियाएँ विभिन्न ध्वनि प्रभाव, वातावरण की अनुकूल और प्रभावशाली सृष्टि, दर्शक को बाँधने वाला माहौल, प्रकाश योजना और विभिन्न पद्धतियों और प्रयोग की संभावनाएँ । ये नाटक एक ओर साहित्य विधाओं में नाटक के भिन्न मौलिक कलारूप को प्रतिष्ठित करते हैं दूसरी ओर निर्देशक, अभिनेता, दर्शक के व्यक्तित्व की मौलिकता को भी चुनौती देते हैं, अध्ययन और प्रस्तुतिकरण दोनों दृष्टियों से सतर्क उत्सुक करते हैं । नाटक की मूलभूत विशेषताओं और शक्ति का विस्तार हिन्दी में वर्षों बाद यहाँ मिलता है ।

परन्तु समस्याएँ ऐसी हैं कि वे प्रश्नचिह्न से आरंभ होती हैं और जहाँ समाप्त होती हैं वहाँ भी एक प्रश्नचिह्न लगा रहता है । सचमुच राकेश ने किसी स्तर पर कोई निश्चित उत्तर या समाधान नहीं दिया है - शायद यह उनके स्वभाव में ही था । प्रश्न हमेशा उठाए और उन प्रश्नों से उलझते रहकर एक सही स्थिति और संभावना पर अवश्य पहुँचे भी, हिन्दी नाटक और नाटककार को नई स्थितियों, संभावनाओं तक पहुँचाया भी । नाटक के संबंध में उसके स्वरूप या तत्त्वों का आरोपण उन्हें सह्य भी न होता लेकिन इससे हटकर कुछ आवश्यक प्रश्न अवश्य उठाए

उदाहरणार्थ नाटककार की सत्ता का प्रश्न ! चूँकि प्रसाद काल से नाटककार रंगमंच को हेय दृष्टि से देखता चला आ रहा था और नाटककार और नाटक की रंगमंच प्रक्रिया के साझीदारों में परस्पर कोई संबंध न था इसलिए नाटककार का अस्तित्व ही मात्र रचना के बाद समाप्त होता गया । राकेश को यह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी । पहले के नाटककार की अपेक्षा आज की रंगमंचीय गतिविधियों में उनकी गहरी रूचि थी । उनके दौरान ही उन्होंने महसूस किया कि नाटककार अपने नाटक के मंचीकरण की प्रक्रिया से एकदम कटा हुआ है उसका एक आवश्यक हिस्सा नहीं है क्योंकि हिन्दी में तो संगठित रंगमंच की कमी के कारण यह स्थिति कभी नहीं आ पायी, और इसी वजह से लोगों की मानसिक पृष्ठभूमि भी ऐसी नहीं बन पायी जिसमें नाटककार के एक निश्चित अवयव होने की कल्पना की जा सके । इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण प्रश्न इससे पहले लक्ष्मीनारायण लाल ने भी उठाए थे । उन्हीं के नाटक 'रामरानी' की भूमिका इस माने में अपने ऐतिहासिक महत्त्व रखती है लेकिन राकेश के साथ यह बहस ज्यादा सक्रिय रूप में उठी । अपने लेख 'नाटककार और रंगमंच' में राकेश ने अपने विचार यूँ स्पष्ट किए हैं कि रंगमंच का जो स्वरूप हमारे सामने है उसकी पूरी कल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर करती है । नाटककार का प्रतिनिधित्व होता है एक मुद्रित या अमुद्रित पांडुलिपि द्वारा जिसकी अपनी रचना प्रक्रिया मंचीकरण की प्रक्रिया से अलग नाटककार के अकेले कक्ष और अकेले व्यक्तित्व तक ही सीमित रहती है । नाटककार के रंगमंच से, मंचीकरण की प्रक्रिया से कटे रहने के कारण या तो रंगकर्मियों को नाटककार से शिकायतें रहती हैं या बिना किसी सूचना या विचार शक्ति के संवाद, भाषा यहाँ तक कि पात्र भी बदल दिए जाते हैं या हटा दिए जाते हैं । नाटककार की इस 'अजनबी' और संकट में पड़ी दयनीय स्थिति का राकेश ने कड़ा विरोध किया । उन्होंने कहा कि रंगमंच की पूरी प्रयोग-प्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहे, यह स्थिति मुझे स्वीकार्य नहीं लगती । राकेश ने हमेशा इस बात पर बल दिया कि नाटककार की प्रयोगशीलता और क्रियात्मक रंगमंच की प्रयोगशीलता एक दूसरे से जुड़ सके और दोनों को एक दूसरे के निकट लाने के लिए उन्होंने यह बहुत आवश्यक समझा कि 'नाटककार पूरी रंग-प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बन सके । वह अंग बनने के लिए ही चिन्तित न हो बल्कि उसी से उसकी रचना शक्ति भी विकसित हो सही दशा में । नाटक की रचना-प्रक्रिया और रंगमंच की प्रयोगशीलता के परस्पर जुड़ जाने में वह दोनों ओर की सम्भावनाएँ ज्यादा देखते हैं-रचना की भी, और रंगमंच के विकास की भी । कहना न होगा कि हिन्दी में शायद ही किसी नाटककार ने इतनी दिलचस्पी के साथ इस प्रश्न पर विचार किया हो, स्वयं रंगमंच के अधिक से अधिक निकट आने का प्रयत्न किया हो और नाटक के विकास में अवरोधात्मक स्थितियों का इतना विरोध किया हो । नाटक क्षेत्र में प्रचलित ग्रहों को तोड़ने और सोचने के लिए भूमि तैयार करने में राकेश का, उनके नाटकों का बहुत बड़ा हाथ है । नाटककार और निर्देशक, नाटककार और प्रस्तुतकर्ता, नाटककार और अभिनेता के बीच की गहरी खाई को मिटाकर दोनों के अहं और काम्प्लेक्स को हटाकर व्यवधान को दूर करने में उनके नाटक सहायक हुए हैं । इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'लहरों के राजहंस' की लम्बी रचना-प्रक्रिया है । 1963 में लिखा जाकर यह नाटक 1968 में दोबारा लिखा गया । बहुत सी आलोचनाओं, प्रतिक्रियाओं को झेलते हुए, समझते हुए उनका साझीदार होते हुए । 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में इस नाटक की रचना-प्रक्रिया का पूरा ब्योरा देते हुए अंत में राकेश ने कहा है कि 'लहरों के राजहंस' के ऊपर उठाई गई आपत्तियों का उत्तर देने के बाद भी लगता था मैं एक अपराधी हूँ, हर आलोचना या आलोचनात्मक पत्र मेरे ऊपर लगाया गया अभियोग है । मुझे जैसे भी हो उस अभियोग का उत्तर देना है । अपनी रचना से लेखक की सम्बद्धता, निर्देशक, अभिनेताओं, दर्शकों और अन्य व्यक्तियों की आलोचनाओं के प्रति इतनी सतर्कता और सक्रियता जहाँ नाट्य-लेखन के प्रति लेखक के दायित्व का बोध कराती है वहाँ उसकी उत्सुक

और खुली मानसिकता, साथ ही नाट्य विधा की जटिलता और मौलिकता को भी स्पष्ट करती है ।

33.3 अभ्यास के प्रश्न

1. मोहन राकेश के रचना दृष्टि पर सविस्तार टिप्पणी कीजिए ।

लहरों का राजहंस – कथावस्तु

पाठ–संरचना

34.0 उद्देश्य
34.1 परिचय
34.2 कथावस्तु (वस्तु विवेचन)
34.3 अभ्यास के प्रश्न

34.0 उद्देश्य

'लहरों के राजहंस' की कथानक कल्पना प्रधान ऐतिहासिक और रोमांटिक है। कृति का ऐतिहासिक आधार संस्कृत में महाकवि अश्वघोष विरचित प्रसिद्ध काव्य 'सौन्दरानन्द' है। इसमें कल्पना का भरपुर सहारा नाटककार ने लिया है। इस इकाई का उद्देश्य नाटक के कथावस्तु से पाठकों को परिचय कराना है।

34.1 परिचय

लहरों के राजहंस के भूमिका में नाटककार ने कथावस्तु के संबंध में कहा है – 'प्रस्तुत नाटक का आधार ऐतिहासिक हैं--- कथा का आधार अश्वघोष का 'सौन्दरानन्द' काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में परिस्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का सौन्दरानन्द भी हैं, क्योंकि संस्कृत तथा पालि भाषा में जो कथा उपलब्ध थी उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है, एक काल्पनिक अन्विति से उसे विस्तार दिया है। धम्मपद की टीका में नंद और सुंदरी की जो कथा है, सौदरानंद और सुंदरी की कथा एक आप्राप्य मात्र है। क्योंकि मुझे लगा कि उसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक हैं जिस अर्थ में 'आषाढ का एक दिन' के अन्तर्गत है।

वास्तव में लहरों के राजहंस का कथानक ऐतिहासिक कम आधुनिक ज्यादा है। कथावस्तु का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए डॉ सुरेश अवस्थी ने कहा है – 'लहरों के राजहंस' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वंद्व है।

34.2 कथावस्तु (वस्तु विवेचन)

अश्वघोष के सौंदरानंद' से एक उद्विगन उतेजित क्षण तथा संशयग्रस्त व्यक्ति के विशिष्ट मूड को ग्रहण करक मोहन

राकेश ने 'लहरों के राजहंस' में नंद और सुंदरी की कथा का आश्रय लेकर आधुनिक व्यक्ति की द्विधा-विदीर्ण मानसिकता के नाटकीय चित्रण के साथ-साथ स्त्री पुरूष संबंधों की सामानरूप नियति की तलाश का गम्भीर रेखांकन किया है। परिवेश और पात्रों की दृष्टि से अतीतोन्मुखी होने के बावजूद यह ऐतिहासिक नाटक नहीं है। रचनाकार के अनुसार, ''मैने इस इतिहास कथा का उपयोग इसलिए किया क्योंकि इस कथा के माध्यम से विशेष प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती थी।'' यह नाटक रस आनंद और समाधिस्तता का नहीं, द्वद्व, तनाव और उद्वेग का नाटक है। सुंदरी के गलत या सही अपने निश्चित विश्वास है। परन्तु उसके यही अडिग-अटूट विश्वास उसे तोडकर अंतत: द्वंद्व के दाहक अनुभव तक ले जाते है। दूसरी ओर नंद की कोई निश्चित आस्था नहीं है। वह प्रारम्भ से अंत तक संशयग्रस्त है। सुंदरी के पार्थिव ओर गौतम बुद्व के अपार्थिव निश्चित विश्वासों के बीच से अपना निजी विश्वास तलाशता हुआ नंद भी अन्त में तनाव और सघर्ष के बिन्दु पर ही जा पहुचता है या कहें, कही नहीं पहुँचता है। सुंदरी प्रतिबद्वता के माध्यम से और नंद अप्रतिबद्वता के रास्ते से न चाहते हुए भी उसी द्वंद्व के खौलते हुए बिन्दु पर आ मिलते हैं और भीषण विस्फोटक की भाँति फट कर विखर जाते है।

सन् छियालिस-सैंतालीस में लिखी गई एक अनाम ऐतिहासिक कहानी से लेकर सुंदरी नामक रेडियों नाटक और रात बिताने तक नामक रंग अथवा रेडियों एकांकी से होते हुए दो अप्रैल से लेकर बारह अप्रैल उन्नीस सौ तिरेसठ के बीच लिखित और 1963 में ही प्रकाशित 'लहरों के राजहंस' के प्रथम संस्करण और जुलाई सन छियासठ में 'अनामिका' (कलकत्ता) के रंगकर्मियों के साथ काम करते हुए अंतत: सत्रह अगस्त को नए रूप में लिखित और सितम्बर छियासठ में लगभग छ: सात प्रारूपों के बाद अपने पुर्नलिखित एवं सन अड़सठ में प्रकाशित इस नाटक के नए संशोधित रूप की लम्बी सृजन-यात्रा का विस्तृत और रोचक उल्लेख नाटककार ने स्वयं 'नाटक का यह परिवर्तित रूप ' नामक भूमिका में किया है।

'लहरों के राजहंस' के प्रथम संस्करण के मंचन की सफलता को लेकर नाट्य-समीक्षकों और रंगकर्मियों के बीच ही नहीं स्वयं रचनाकार के मन में भी कई प्रकार की शंकाएं उत्पन्न हो गई थी।

इसके वस्तु-विधान श्यामांग-प्रसंग, अतिरिक्त दार्शनिकता तथा तीसरे अंक में नंद के सुदरी से बिना मिले या टकराए पलायन को लकर आलेख की पर्याप्त आलोचना की गई। इन सभी कर्मियों और कमजोरियों को ध्यान में रखकर ही राकेश ने इसे पुन: लिखा ओर इस प्रकार 'लहरों के राजहंस' के नए संस्करण में-

वस्तु को अधिक नाटकीय ढंग से संयोजित किया गया। तीनों अंकों के स्वतंत्र आरम्भ, संघर्ष और चरम-बिन्दु रखने के बावजूद उन्हें इस प्रकार कलात्मक और नाटकीय ढंग से अन्विति प्रदान की गई कि नाटक का समग्र-प्रभाव कहीं खंडित न हो।

श्यामांग को दूसरे अंक के आरम्भ के पश्चात नाटक से पूर्णत: हटाकर रचना को अपेक्षाकृत अधिक रोचक और प्रभावपूर्ण बना दिया गया। प्रथम संस्करण में नंद के अन्तर्गत की अभिव्यक्ति के लिए परिस्थितिवश जो भूमिका श्यामांग को निभानी पड़ती थी नये संस्करण में अब वह भूमिका नंद स्वयं मुखर होकर अधिक नाटकीय ढंग से निभाता है। चरित्रों की रेखाएँ भी अपेक्षाकृत प्रखर एवं स्पष्ट हो गई है। तथ्यात्मक दृष्टि से नये संस्करण में श्यामांग के दस सम्वाद (उन्नीस पंक्तियों) कम कद दिए गए। इसके छ: स्वगत (पच्चीस पंक्तियाँ) भी काटे गए। इसी चरित्र से जुड़े अलका के भी बयालीस संवाद (चौहत्तर पंक्तियाँ) नाटक के नए रूप में हटा दिए गये। किन्तु कुल मिलाकर आलेख में एक सौ तैतीस पंक्तियाँ की वृद्वि हो गई नंद के उन्नीस संवाद (एक सौ पैंतीस पंक्तियाँ) तथा सुंदरी के पंद्रह संवाद

(चौसठ पंक्तियाँ) बढा दिए गये। श्वेतांग के सर्वप्रथम लम्बे संवाद के कारण अब उसकी भी इक्कीस पंक्तियाँ बढ़ गई।

तीसरे अंक के मध्य भाग को छोड़कर शेष नाटक में द्वंद्व और तनाव के कोण अधिक पैने हुए और इसकी संरचना में अपेक्षाकृत अधिक कसाव आ गया।

अनेक वैचायिक एवं गम्भीरर दार्शनिक अतिरिक्त संवादों को काट कर नाटक को अधिक सहज, विश्वसनीय एवं सरल स्वाभाविक बना दिया गया।

नंद और सुंदरी की समक्षता और टकराहट ने नाटक को जीवन्तता तथा इसकी परिणतिहीन परिणति ने आधुनिकता प्रदान की है।

तीन अंक और नंद के भवन में सुंदरी के कक्ष' के एक ही (बॉक्स) दृश्य बंध वाले इस नाटक का संरचना और शिल्प के स्तर से आधुनिक हिंदी नाटको में अपना विशिष्ट एवं निश्चित स्थान है क्योंकि यह नाटक एक विशेष रचना - पद्धति और शिल्प विधान के अनुसार एक सुगठित और तर्क संगत बंध (जैतनबजनतम) का निर्माण करता है। संकलन त्रय (जिसके कठिन बंधन से अधिकांश आधुनिक नाटककारों ने अब मुक्ति पाली है।) का पालन राकेश अपने नाटकों में कई महत्वपूर्ण नाटकीय दृश्यों को सूक्ष्म बना देने के मूल्य पर भी हमेशा करते रहे है। थोड़े से तकनीकि चमत्कार के द्वारा दृश्य बंध को लचीला बनाकर वह नंद की दीक्षा के चरम नाटकीय क्षण को आसानी से मंच पर प्रदर्शित कर सकते थे, परन्तु उन्होने अनके वैचारिक और व्यावहारिक कारणों से यह सुविधा अस्वीकार करके अपनी रचना को सरल और सहज रूप प्रदान करना अधिक पसंद किया। इस नाटक में अंधेरे से धम्मंशरण गच्छामि के प्रभावपूर्ण धीर गम्भीर समवेत स्वर के साथ कामोत्सव की तैयारी के समारोहपूर्ण भव्य दृश्य संयोजन के वैषभ्य से बुद्व के परोक्ष और सुंदरी के प्रत्यक्ष प्रभाव का रेखांकन कर दिया है। पहले ही सम्वाद द्वारा नाटककार के नंद भवन में होने वाले ऐतिहासिक विराट कामोत्सव और उसके प्रति सुंदरी की अतिरिक्त अनुरक्ति को संकेतित को संकेतित करके एक ओर राजसी वैभव तथा ऐतिहासिक भव्य वातावरण का सुंदर दृश्य प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर महोत्सव के महत्व उसके स्तर पर प्रभाव को भी कुशलता से व्यक्त कर देता है। उद्घाटन के अन्तर्गत नाटक के द्वंद्व का संकेत देने के बाद रचनाकार अलका सुंदरी और श्यामांगके माध्यम से सुंदरी के रूप गर्व दर्प और प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व को स्थापित कर देता है और साथ-साथ एक भिन्न धरातल पर अलका श्यामांग के सात्विक शांत और समर्पित प्रणय को नंद और सुंदरी के अधिकार आवेशपूर्ण मुखर उद्याम प्रेम के वैषम्य और विकल्प के रूप में उपस्थित करके रंगमंच के माध्यम पर अपनी पकड़ और इसके व्याकरण की अच्छी समझ का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है। प्रथम अंक के आरम्भिक अंश में नाटककार ने सुंदरी की अनेक गर्वोक्तियों का उपयोग 'नाट्य' विडम्बना के पूर्वाभास के रूप में अत्यंत कुशलता से किया है। राकेश बड़ी सावधानी और सतर्कता से सुंदरी के चरित्र की प्रतिष्ठा हो चुकने पर - नंद का प्रवेश कराते है। नंद के अंतर्मन के प्रतीक श्यामांग से भली भाँति परिचित दर्शक नंद को देखते ही उसके अंतर्द्वन्द्व को पहचान लेता है। प्रथम अंक में नाटक का 'उद्घाटन' सरल द्रुत बहुआयमी और स्पष्ट है। इस अंक की एकमात्र शिल्पगत दुर्बलता है- श्यामांग का चरित्र। नंद के अन्तर्गत का प्रतीक बनाने की प्रक्रिया में लेखक इसकी स्वाभाविक जीवंतता और मांसलता की रक्षा नहीं कर सका है।

दूसरे अंक के आरंभ में श्यामांग के नेपथ्य कथन के साथ मंच पर नंद की कियाओं और मुख मुद्राओं का सामंजस्य करके राकेश ने नाटकीय सूझ-बूझ का परिचय दिया है। यहीं नंद के एकालाप से उसके संवेदनशील व्यक्तित्व

और गंभीर अंतर्द्वन्द्व को प्रत्यक्षत: उदघाटित किया गया है। संभवत: सुंदरी जैसे आकामक एवं तीक्ष्ण चरित्र की अनुपस्थिति में ही नंद का अंतर्मुखी जटिल व्यक्तित्व स्थापित हो सकता था। सुदरी के जागते ही नर नारी संबंधों का यह नाटक जैसे फिर से अपनी मूल गति को पकड़ लेता हैं इसमें मूलत: पति मुग्ध-मधुर अंतरंग संबंधों का रमणीय प्रस्तुतीकरण हुआ है। परंतु बीच बीच में भिक्षुओ के समवेत स्वर से दर्पण के टूटने कोमल अक्षत निष्ण मृग के प्रसंग हवा कबुतरों खुटकबढैया बाहर से स्थिर किंतु भीतर से उद्विग्न नंद के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक प्रबुद्व दर्शक पा जाता हैं नंद के सुंदरी के प्रति गहरे सम्मोहन और साथ ही गौतम बुद्व के प्रति उत्कट मोह के कारण नंद के भीतर चल रहे भीषण द्वंद्व का चित्रण इस अंक में कलात्मकता के साथ किया गया है।

नाटक का अंतिम अंक और अंत अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं और राकेश इस नाटक के इसी अंश को लेकर सबसे अधिक परेशान रहे है। इस अंक की अधिकांश महत्वपूर्ण एंव निर्णायक घटनाएँ नेपथ्य में घटित होती है। उनका दृश्य के बजाय सूक्ष्म होना संरचना की दृष्टि से एक बड़ी कमजोरी हैं नंद और बुद्व के साक्षात्कार की घटना भी पहले श्वेतांग और अलका के बीच फिर आनंद और नंद ओर सुंदरी बाद नंद के एकालाप में तथा अंत में नंद और सुंदरी के बीच बार-बार दोहराए जाने के कारण अपना वांछित प्रभाव खो बैठती है। यही कारण है कि यहाँ केश मुंडित नंद का मंच पर प्रवेश अपनी प्रभविष्णुता एवं नाटकीयता खोकर हास्यप्रद सा बन जाता है। इस अंश को शिथिल करने में नंद के लम्बे-लम्बे संवाद और एकालाप भी पर्याप्त योग देते है। यहाँ तक आते आते यह चुस्त-दुरूस्त नाटक वणनात्मक और शिथिल हो जाता है। इस नाटक की सारी सफलता और श्रेष्ठता के बाबजूद यह सच है कि नाटककार अपने कथ्य को नाटक की मूल संरचना में आंतरिकता से पिरोने और नाटकीय रूप से अभिव्यक्त करने में पूर्णत: सफल नहीं हो सका है।

वस्तु-संरचना और शिल्प की दृष्टि से "एक दृश्यबंधीय नाटय रचना में कथानक की गति बनाए रखना बहुत कठिन होता है। इस कठिनाई को हल करने के लिए राकेश ने रंगमंच पर पात्रों को बराबर बदलते रहकर कथा स्थितियों को परस्पर जोड़ा है। पात्रों का एक दल तक स्थिति उत्पन्न करता है तब तक उनमें से कुछ पात्र मंच से चले जाते है। ओर उनके स्थान पर कुछ नए पात्र आ जाते है। जो मंच पर पहले से रह गए पात्रों के साथ मिलकर पहले वाली कथा-स्थितियों को आगे ले जाते है। इस प्रकार नई-नई कथा-स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती है और पहले वाली स्थितियों की श्रृंखला से नयी नयी कड़ियाँ जुडती जाती है। इन्हीं कड़ियों के माध्यम से कथानक को गति प्राप्त होती है।"

'लहरों के राजहंस' नाटक की कथा वस्तु (वस्तु योजना) मं दूहरी प्रतीकात्मकता एवं सांकेतिक योजना की गई है। प्रतीक एवं संकेतो के रूप में आगे क्या होने वाला है, योजना की संध्या के अवसर पर अलका द्वारा देखे गये स्वप्न के रूप में आभासित हो जाती है। वह देखती है - "सूखा सरोवर पत्रहीन वृक्ष ओर धूलभरा आकाश --- इसका कुछ उपाय करना होगा। नहीं यह न हो कि तू भी कल भिक्षुणी का वेश धारण करने की सोचने लगे।" स्वप्न के इस प्रतीकात्मक संकेत की योजना वस्तु योजना के भावी स्वरूप को समझ पाने में पर्याप्त सहायक होती है। भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के मध्य बिन्दु पर खड़े व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व की सफलता के साथ चित्रण किया गया है। इसमें संदेह नहीं है।

कौन सा मार्ग सत्य एवं श्रेयस्कर है, भौतिकता का --अर्थात प्रवृति मार्ग --- आध्यात्मिकता का अर्थात निवृति मार्ग? - इस द्वंद्व से आहत एवं पीड़ित व्यक्ति की यातना ही नाटक की वस्तु योजना का मध्य बिन्दु है। समूचा

किया व्यापार इसी के आस पास भ्रमण करता हुआ दिखाई देता है। समूचा किया व्यापार आधुनिक मूल्यों के संदर्भ में चित्रित किया गया है। लेखक के अपने मतानुसार 'लहरों के राजहंस' की वस्तु योजना को अनेक प्रकियाओं में से गुजरना पड़ा है। मोहन राकेश 'लहरों के राजहंस' के संबंध में नाटक का यह परिवर्तित रूप शीर्षक के अन्तर्गत पृष्ठ 11 पर लिखते है:

''बहुत पहले से एक बिम्ब मन में था। दो दीपाधार। एक उचें शिखर पर पुरूष-मूर्ति ··· बाहे फैली हुई तथा ऑखें आकाश की ओर उठी हुई दूसरा छोटा शिखर पर नारी-मूर्ति बाहें सिमटी हुई तथा ऑखें धरती की ओर झुकी हुई।'' स्पष्टत: आकाश की ओर उठी ऑखे। आध्यात्मिक चेतना की प्रतीक है, जबकि धरती की ओर झुकी ऑखे भौतिकता की -- एक नंद, दूसरी सुंदरी। अपनी बात को आगे बढाते हुए मोहन राकेश लिखते है -- ''पहले पहल शायद अश्वघोष का सौंदरानंद पढते हुए यह बिम्ब मन में बनने लगा था। क्यो और कैसे यह कह सकना असम्भव है। उस काव्य का अपना बिम्ब तरंगों पर तैरते राजहंस का है या अनिश्चय में उठे रूके एक पैर का परंतु मेरे लिये यह सब धुंधला दृश्य था। स्पष्ट थे दो दीपाधार जो सौदरानंद में नहीं थे। ··· पिछले बीस वर्षो मे न जाने कितनी बार और कितनी तरह से मैने इस दीपाधारों के बीच में धुंधले दृश्य को बदलते देखा है। हर बार का दृश्य एक नये दृश्य का अभ्यास देकर नीका पड़ जाता रहा हैं आज तक किसी और रचना को लेकर मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ।'' उपरोक्त बिम्ब योजना के अनुरूप ही नाटक की वस्तु योजना को रूपायित करने का प्रयास नाटककार ने आद्यन्त किया है। लम्बी प्रकिया के कारण ही वस्तु का विन्यास होने तक इसमें स्वत: ही सामयिक परिवेश एवं मूल्यों का स्वत: ही समावेश हो गया है। ऐसा नाटक में तीन पर परिवर्तन की प्रकिया से ही सम्भव हो पाया है। तीनों अंको में संगति बैठाने के लिये निश्चय ही नाटककार को पर्याप्त प्रयत्न करना पड़ा हे, जो वास्तव में सराहनीय है।

नंद दीक्षा के मूल प्रसंग के साथ-साथ श्यामांग का ज्वर ग्रस्त प्रलाप प्रसंग भी चलता रहता है। श्यामांग के इस प्रसंग का वस्तु योजना की दृष्टि से पर्याप्त महत्व है। क्योंकि डॉ. सुरेश अवस्थी के शब्दो में - '' ··· यह प्रसंग कई प्रकार से और कई स्तरों पर नाटक की मुख्य कथा और उसके मूल संघर्ष से जुड़ा हुआ है।'' उसका स्वरूप आधि कारिक कथा के साथ चलने वाले प्रासंगिक या गौण कथा रूपों से सर्वथा भिन्न है। उसकी मित्रता उस रूप में पूर्णतया सार्थक है कि वह आधिकारिक वस्तु एवं समग्र स्वरूप विधान का ही एक पुष्ट अंग है। उसका स्वरूप उन प्रासंगिक आयोजना जैसा नहीं, कि जो आधिकारिक वस्तु को सहायता तो पहॅचती है, किन्तु अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी बनाए रखती है। डॉ. सुरेश अवस्थी के अनुसार -- 'लहरों के राजहंस' में श्यामांग प्रसंग नाटक के पूरे रूपबंध का ही अंग है और वह नाटक की मुख्य कथा वृति और द्वंद्व भाव को अधिक तीव्र बनाता है। अपना स्वायत अस्तित्व नहीं निर्मित करता ।''

डा. सुरेश अवस्थी ने नाटकीय दृष्टि से वस्तु योजना में श्यामांग प्रसंग को सामान्य दर्शक की रूचि के कुछ असंगत मानते हुए लिखा है - ''लेकिन श्यामांग प्रसंग नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रूचि और नाटक के सहज प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामांग की चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यो और कथनों का मन्तव्य स्पष्ट नहीं है, और ऐसा लगता है कि उसके संबंध में नाटककार दुविधाग्रस्त है।'' हमारे विचार में चरित्रगत अवधारणा और उसके कार्यो कथनों में कुछ अस्पष्टता तो अवश्य है, किन्तु उसकी दुविधा वास्तव में नंद की दुविधा की ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हैं क्योंकि आरंभ में डा. सुरेश अवस्थी के अनुसार ही -- '' लगता है कि श्यामांग और अलका का अत्यंत सहज कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षण सुंदरी और नंद के उपाम मुखर और कामासिक्त प्रेम का ही प्रतिरूप है।'' बाद में अकेला श्यामांग अकेले नंद की दुविधाओं का प्रतीक बन कर हमारे सामने

आता है। इस दृष्टि से श्यामांग की प्रासंगिक वस्तु योजना उतनी असंगत एवं दुरूह नहीं है। बल्कि उसको समझाने एवं उसकी संगति बिठाने की दृष्टि से मन-मस्तिष्क पर अधिक बल देने की आवश्यकता अवश्य प्रतीत होती है। सुरूचि संपन्न दर्शकों को ही सूझ-बूझ से वह प्रभावित कर सकता है, सामान्यों को नहीं। इस बात को वस्तु की योजना दुर्बल यदि स्वीकारना चाहे तो हमें कोई आपत्ति नहीं। डा. सुरेश अवस्थी भी हमारे तर्क को स्वीकार करते हुए कहते है। - '' इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय प्रयोजन की सिद्वि की चेष्टा करता है और फिर बाद में यही श्यामांग नंद के अस्थिर और द्वंद्व जर्जर मन का प्रतिरूप बन जाता है और अपने प्रलाप में जैसे नंद की ही अनिश्चिता , विभ्रम और अकुलाहट को ध्वनित करता है।'' वास्तव में कमल ताल में पड़ने वाली छाया से श्यामांग की भय संकुल अकुलाहट ही है। इसी प्रकार द्वितीय अंक में नेपथ्य से गुंजित हो रहा ज्वर ग्रस्त श्यामांग का स्वर नंद की नींद का अपहरण कर उसे (नंद) की अपनी आकुल हृत धड़कनों का प्रतीक है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि श्यामांग का गौण प्रसंग आधिकारिक कथा के प्रयोजन को प्रस्फुटित गर्व प्रतिध्वनित करने में पूर्ण सहायक होता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व को खोकर। अपने व्यक्तित्व की हीनता श्यामांग के साथ-साथ अलका के प्रसंग चरित्र को भी निस्सन्देह दुर्बल बना देता है। इस प्रसंग को हम एक और दृष्टि से भी विचार का विषय बना सकते है। उपर हमने मोहन राकेश के ही शब्दों में नाटक की संरचना के प्रेरणा बिन्दु एवं उकसी अस्पष्टता के क्रमशः स्पष्ट होने, तीन बार के संशोधन परिवर्तन परिवर्द्धन के बाद नाटकीय वस्तु-विधान के वर्तमान रूप तक आने की चर्चा की है। अतः इस दृष्टि से श्यामांग को हम नाटककार का अन्तर्द्वन्द्व भी मान सकते है। यदि विद्वान आलोचक इस तथ्य की ओर गहराई से ध्यान दें, तो उन्हें जो कई असंगतियाँ दिखाई देती है, वे स्वतः ही दूर हो जायेगी। हमारे इस तर्क को नाटक के अंतिम पृष्ठ का श्यामांग द्वारा उच्चारित संवाद स्पष्टतः पुष्ट करता है- ''बस एक किरण ··· केवल एक किरण ···!'' और लगता है कि जैसे नाटककार को अपने मन को बोध देने का सम्बल मिल गया है, जैसे नंद के अन्तर्द्वन्द्व के परिहार का सम्बल अन्ततोगत्वा गौतम बुद्व एवं उसका मत ही बन जाता है। इस दृष्टि से सोचने पर कलाकार का व्यक्तित्व एवं द्वंद्व भी अंत र्हित मानकर चलने पर श्यामांग प्रसंग नाटकीय वस्तु व्यापार को दुर्बल बनाने वाली कड़ी नहीं रह जाता।

नेपथ्य से मुखर होने वाले संगीत खण्डो के समान श्यामांग के स्वर वस्तु प्रदर्शन को कमजोर बनाते है-- यह आक्षेप भी विद्वानों ने लगाया है। हमारे विचार में उसे नाटककार का साहसिक नव्य प्रयोग मानकर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। हमारा यह भी विचार है कि वह वस्तु योजना एवं नाटकीय व्यापार को कृत्रिम न बनाकर वस्तु विषय एवं चरित्र के प्रति उत्सुकता वर्द्वक है। आश्चर्य भाव रहने पर भी वह सामान्य दर्शक में तल्लीनता लाने वाला है। उसे हम पात्राभिमुखी पार्श्व संगीत का सा ही तरन्नुम भी है। औत्सुक्य वर्द्वन एवं सस्पेंस की दृष्टि से हम वस्तु योजना में इस सबका अत्यधिक महत्व स्वीकारते है।

विद्वान समालोचकों ने वस्तु विन्यास में दो और दुर्बल कड़ियों भी स्वीकारी है। उनमें से पहली तो यह कि नंद के दीक्षित होने की घटना को रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया गया, मात्र संवादों से सूचना दे दी गई है। दूसरी यह कि केश कर्तन के बाद नंद के साथ भिक्षु आनन्द छाया की भांति जुड़ा रहता है। हमारे विचार में भी कथानकीय प्रभविष्णुता की दृष्टि से ये दो कड़ियाँ काफी दुर्बल है यदि नंद का दीक्षित होना मंच पर दिखाया जाता तो वस्तु व्यापार का प्रभाव निश्यच ही प्रवर्द्वित हो जाता। इसी प्रकार यदि भिक्षु आनन्द की छाया द्वंद्व ग्रस्त नंद के साथ जोड़ी जाती और नंद के विकार को गौतम बुद्व के व्यापक विस्तृत प्रभाव वाली बात भी कि - '' उन्होने मेरे केश कटवा दिये.

...कटवा ही दिये तो उससे अंतर क्या पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता आखें बदल जाती।'' और फिर - '' मै तुम्हारा या किसी ओर का विश्वास ओढ कर नहीं जा सकता, नहीं खोना चहता।'' पर भिक्षु आनन्द के अनिच्छित नंद के साथ जुडे रहने पर प्रतीत होता कि नंद अन्ततोगत्वा आनंद का विश्वास ओढ ही लेता है। इस दृष्टि से निश्चय ही ये योजनाएँ हल्की पड़ती है।

वस्तु विन्यास के नाटकीय अन्त की असंगति की ओर भी डा. सुरेश अवस्थी ने पाठकों का घ्यान आकर्षित किया है- ''और फिर जिस प्रकार नाटक का अंत होता है। उसमें नंद और सुंदरी का अन्तर्द्वन्द्व जैसे सहसा अपनी भूमि और अपना अर्थ खो देता है। ओर तब लगने लगता है कि पात्र अपनी परिस्थितियों और अपनी विपत्ति से पूरी शक्ति और आस्था के साथ अन्त तक नहीं लड़ सकें।'' यहाँ यह प्रश्न साथ ही उठना स्वाभाविक है कि तब आलोचक महोदय किस प्रकार का अन्त चाहते थे? एक ओर तो वे इस नाटक के समूचे व्यापार को आधुनिक शिल्प-विधान से संयत मानते है, जबकि दूसरी ओर अंत कुछ निश्चित सा, नपातुला या पूर्व निर्धारित सा चाहते है। फिर नंद का भिक्षु बनना पूर्व निर्धारित अंत तो है ही हा वह परम्परागत नाटकों के समान स्पष्ट प्रदर्शित नहीं हैं द्वंद्व के उच्चतम शिखर में पात्रों को रंगमंच से हटाकर या यवनिका पात करा कर नाटककार ने बाकी सब दर्शकों या पाठकों के समान सोचने के लिये छोड़ दिया है। हमारे विचार में आज के शिष्य की यही उचित विद्या है। क्योंकि कलात्मकता इसी में है! फिर आज का पाठक एक दर्शक अन्त के सांकेतिक संदर्भ को न समझ सकें, यह कोई युक्ति संगत बात नहीं। नाटकीयता भी निश्चय ही इसी प्रकार के अंत में है। क्योंकि दर्शक और पाठक कुछ नापने जोखने की सामग्री लेकर जाता है। फिर यथार्थ वादी कला एवं वस्तु विधान में यथार्थ भी यही है। द्वंद्व का अन्त सा हो गया लगने पर भी वास्तव में जीवंत मॉसल संस्कृति में उसका अन्त नहीं है।, सम्भव ही नहीं है। आज अंत सा लगना ही सत्य हैं और यह लगना सा ही चरम परिणति भी है। फिर ऐतिहासिक संदर्भ में तो यहां अंत को समझा ही जा सकता है। कि घर आकर भी नंद लौट गया- कभी न आने के लिये - कभी न आया। हमारे विचारों में यदि अंत में नाटककार यह स्पष्ट कह या कहलवा देता तो प्रभाव की प्रखरता कम ही होती।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि लहरों के राजहंस का वस्तु योजना ऐतिहासिक होते हुए भी आधुनिक संदर्भो को बड़ी गहराई के साथ अपने अन्तराल में संजोय हुए है। वस्तु विकास की दृष्टि से नाटककार ने अनेक नई सम्भावनाओं और साहसिक प्रयोगों से काम लिया है। हम उन्हे स्तुत्य मानते है। कुछ एक असंगत्याभास भी विद्यमान है। उन्हें यदि नाटककार ने व्यक्तित्व विकास और आधुनिक शिल्प विधान के विकास के संदर्भो में समझाने का प्रयत्न किया जाये, तो उसकी सत्ता भी रह जाती। अत: नव्य प्रयोगों आदि की दृष्टि से वस्तु योजना को पूर्णतया ससन्दर्भ एवं सकारण सफल ही कहा जायेगा।

34.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस के कथावस्तु या वस्तुविवेचन का उल्लेख कीजिए।
2. 'लहरों के राजहंस की कथा दुविधाग्रस्त मानव मन की व्यथा कथा है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

लहरों का राजहंस - पात्र और परिचय

पाठ संरचना

35.0 उद्देश्य
35.1 परिचय
35.2 पात्र और परिचय
35.3 अभ्यास के प्रश्न

35.0 उद्देश्य

'लहरों का राजहंस' में राकेश ने मनोविज्ञान की अनेक धारणाओं का भी बहुविध, व्यापक, सूक्ष्म और रोचक उपयोग किया है । एक धरातल से प्रस्तुत नाटक भोग-अभोग या पार्थिव-अपार्थिव के संघर्ष का नाटक है । नाटक का मूल द्वन्द्व सुन्दरी, नंद और गौतम बुद्ध के तीन कोणों में उलझा हुआ है । यह अद्‌भुत नाटकीय-विडंबना है कि ये तीनों व्यक्ति अलग-अलग जीतकर भी हार जाते हैं । इस इकाई का उद्देश्य इन्हीं पात्रों के चरित्र से पाठकों को परिचित कराना है ।

35.1 परिचय

प्रस्तुत नाटक में सुंदरी जीवन के भोग-पक्ष प्रवृत्ति की प्रतीक है तो गौतम बुद्ध योग पक्ष या निवृत्ति के प्रतीक हैं । नंद प्रवृत्ति और निवृत्ति के इन दो विपरीत ध्रुवों के बीच निरंतर पिसती हुई द्वन्द्व ग्रस्त मानव चेतना का प्रतीक है । नाटककार के शब्दों में ''सुन्दर पृथ्वी के प्रतीक में पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बाँधे रखना चाहती है - पुरुष बाँधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना एक अपार्थिव जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूँढ़ना चाहता है ।'' नाटकीय द्वन्द्व के स्वरूप और उद्देश्य की सिद्धि के लिए इस प्रकार की प्रतीकात्मकता राकेश के लिए एक अनिवार्यता थी, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । नंद का चरित्र एक अन्य स्तर पर सुन्दरी के अहं का प्रतीक है ।

35.2 पात्र और परिचय

लहरों का राजहंस एक द्वन्द्व प्रधान नाटक है । वस्तुयोजना और पात्र योजना दोनों में द्वन्द्व की प्रधानता है । प्रसाद ने नाटक के प्रमुख पात्रों के माध्यम से आधुनिक एवं युगों-युगों की द्वन्द्वग्रस्त चेतना के परिहार का प्रयत्न किया है । उसमें सफलता मिली है या असफलता यह अलग प्रश्न है, कृति की सर्जना का मूल उद्देश्य वास्तव में द्वन्द्वग्रस्त चेतना का चित्रण करना ही है । इसी कारण 'लहरों का राजहंस' नाटक के समस्त प्रधान पात्रों का चरित्र अन्तर्द्वन्द्व

प्रधान है । नाटक के दोनों मुख्य पात्र नन्द और सुन्दरी दोनों के द्वन्द्व को सजग सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है । वास्तव में इनके माध्यम से दर्शनों के द्वन्द्वों में ग्रस्त मानव चेतनाओं को ही रूपायित किया गया है । वह आधुनिक और सर्वकालिक है । इस सम्बन्ध में प्रसाद ने अपने व्यक्त में ही स्पष्टत: उद्घोषित कर दिया है - 'यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय-मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है । नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है, जिस अर्थ में 'आषाढ़ का एक दिन' के अंतर्गत है ।''

इस परिप्रेक्ष्य में लहरों का राजहंस के पात्र और उनके चरित्र-चित्रण के तत्त्व का विवेचन किया जा सकता है । कथात्मक साहित्य की कहानी उपन्यास और नाटक आदि प्रत्येक विधा में पात्रों की योजना एवं उनके चरित्र-चित्रण का विशेष महत्त्व होता है । नाटकों में पात्र-योजना का और भी अधिक महत्त्व इस दृष्टि से होता है कि यहाँ नाटककार जो कुछ भी कहना चाहता है, वह सब उसे पात्रों के माध्यम से ही कहना पड़ता है । नाटककार का सिद्धान्त, मन्तव्य पात्रों का सिद्धान्त मन्तव्य होता है । नाटकों के पात्र-योजना एवं उनके चरित्र-चित्रण के लिए संतुलित दृष्टि अपनानी पड़ती है । क्योंकि पात्र की सफलता-असफलता ही नाटककार की सफलता असफलता होती है ।

लहरों का राजहंस मुट्ठी से रिसते क्षणों का नाटक है । इसके मुख्य पात्र नन्द और सुन्दरी क्षण की प्रतिक्रियाओं और चरम बिन्दुओं पर जीते हैं । जीवन के ताल में राजहंसों को सम जल प्रवाह की अपेक्षा होती है । जिससे तैरने में अनागत की कोई आशंका न हो और प्रत्येक क्षण को समग्रता में पाया जा सके । विपरीत स्थितियों की छाया जब यमामांग, नन्द, सिद्धार्थ और यशोधरा के माध्यम से सुन्दरी के भागों और प्राण पर पड़ने लगती है तब कामोत्सव में अभ्यागतों का न आना, गौतम बुद्ध का राजभवन के द्वारा पर भिक्षाटन, यशोधरा का भिक्षुणी बन जाना, नन्द का बुद्ध के पास में विशेषक न सूखने तक लौट आना ऐसी घटनाएँ हैं जिनमें क्षण विशेष सुन्दरी की अस्मिता से फिसल जाता है । ऐसी स्थिति में सुन्दरी के लिए मुंडित केश नन्द दूसरा हो जाता है और स्वयं वह बीते क्षण को न पकड़ पाने के कारण खण्डित दर्पण, सूखा विशेषक, मृत मृग का प्रतीक बन जाती है ।

पात्रों की योजना करते समय सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान रखना पड़ता है कि उतने ही पात्र रखे जाएँ, जिनका मूल कथा से सीधा संबंध हो और उनका चरित्र-चित्रण की सरलता से समग्रत: संभव हो सके । पात्रों की भीड़-भाड़ यों तो किसी भी युग में अच्छी नहीं समझी गई, किन्तु आज अभिनेयता की दृष्टि से विशेषकर भीड़ जुटाना उचित नहीं माना जाता । इसे वस्तु योजना में तो व्यर्थ का विस्तार हो ही जाता है, कई बार कथ्य भी भीड़-भाड़ में उलझकर बिखरकर रह जाता है । फिर भीड़ का सम्यक् चरित्र चित्रण भी संभव नहीं हो सकता । तब नाटककार को पात्रों की कोई न कोई परिणति दिखाने के लिए कई बार अवांछित एवं अनावश्यक तरीके भी अपनाने पड़ते हैं । प्रसाद जैसे सफल नाटककारों को अपने सफलता कहे जाने वाले नाटकों में नारी पात्रों की भीड़ से इस प्रकार छुटकारा प्राप्त करना पड़ा है । वहाँ अन्य गति नहीं अत: पात्र योजना करते समय सतर्क एवं सफल नाटककार भीड़ से बचने का प्रयास करता है । यह स्पष्ट है कि 'लहरों के राजहंस' में मोहन राकेश ने इस दृष्टि से विशेष सतर्कता का परिचय दिया है ।

पात्र योजना में भीड़ से बचे रहने के साथ यह ध्यान रखना भी आवश्यक होता है कि उतने पात्र तो हों ही जो कथ्य एवं मन्तव्य को पूर्णतया तक पहुँचा सकें । उनका चरित्र-चित्रण सहज स्वाभाविक गति से हो सके । वे पात्र जिस युग से संबंधित है, उसका प्रतिनिधित्व तो कर ही सकें, कुछ ऐसी स्थितियों में भी परिचायक हों कि जो शाश्वत

हैं । इसके साथ-साथ जिस युग में उनको लेकर कृति की सर्जना हो रही है, वहाँ के मूल्यों को मुखर कर पाने में भी कम से कम सहायक तो हो ही सकें । ऐसा तभी संभव हो सकता है कि जब उनके जीवन का घटनाक्रम और क्रियाकलाप ऐसे तत्त्वों एवं भावनाओं से संकलित हों कि जिन्हें शिल्प कहा जा सकता है ताकि किसी भी युग संदर्भ में, युगीन फ्रेम में उन्हें विजड़ित किया जा सके । उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व का युग संदर्भों में भी निभाव हो सके । उनका कृतित्व युगीन चेतनाओं के साथ-साथ सार्वकालिक तथ्यों एवं तत्त्वों को आन्दोलित करने की क्षमता रखता हो ।

लहरों के राजहंस में पात्र-योजना - 'लहरों के राजहंस' में पात्रों की योजना अत्यंत संतुलित है । मुख्य पात्रों में जो प्रत्यक्षत: रंगमंच पर आते हैं, मुख्य हैं - नन्द, सुन्दरी, अलका और श्यामांग । अलक्षित छाया के समान पृष्ठभूमि में आद्यन्त विद्यमान रहने के कारण हम गौतम बुद्ध की गणना भी मुख्य पात्रों में ही कर सकते हैं । क्योंकि नाटक के मुख्य पात्रों का आद्यन्त समूचा संघर्ष और द्वन्द्व भाव बौद्ध-चेतना के पक्ष या विपक्ष में ही संघर्षरत दिखाई देता है ।

गौतम बुद्ध का अलक्षित व्यक्तित्व वह सुचक्कण धरातल है, जिस पर परिस्थितियों की लहरों पर थिरकते हुए द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति-राजहंस अपने समस्त क्रिया व्यापारों एवं अभिव्यक्तियों का उन्मोचन करते हैं । पहले वे छाया के रूप में दिखाई देते हैं । उनका पहला पक्ष एवं अभिनय छायात्मक है, जबकि परवर्ती उन्मुक्त सशरीरी । अत: उनका अस्तित्व असंदिग्ध है ।

शेष सभी पात्र नाटक के गौण पात्र कहे जा सकते हैं । ऐसे पात्रों में श्वेतांग, शशांक, मैत्रेय, नीहारिक और प्रत्यक्षत: भिक्षु आनन्द की गणना की जा सकती है । पर गौण होते हुए भी वस्तु एवं कार्य योजना की दृष्टि से यह पात्र गौण नहीं है । क्योंकि ये लोग समस्त नाटकीय रूप-व्यापारों में एवं चेतनागत व्यापारों के उद्घाटन में पूर्णतया सहायक सिद्ध होते हैं । पात्र-सूची में 'शशांक' नामक गृहाधिकारी का नामोल्लेख होते हुए भी नाटकीय व्यापार में वह प्राय: नहीं दिखाई देता, अत: मात्र इसी काम को निरर्थक कहा जा सकत है । शेष पात्रों में श्वेतांग एक स्थिर चेतना की प्रतीक अनवरत अपने कर्तव्य पालन में निरत राजकर्मचारी है । उसे श्वेतांग की तुलना में रखा जा सकता है, परन्तु श्वेतांग और श्यामांग की तुलना इस दृष्टि से संभव नहीं हो सकती कि श्यामांग तो आद्यात नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक बना रहता है, उसका व्यक्तित्व नन्द के व्यक्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है-बल्कि उसी में समग्रत: अन्तर्निहित है, जबकि श्वेतांगक अपना स्वतंत्र सामान्य व्यक्तित्व है । उसमें कुछ भी रहस्य नहीं । सभी कुछ स्पष्ट एवं उजागर है ।

आर्य मैत्रेय पहले अंक में थोड़ी देर के लिए कपिलवस्तु के साम्भ्रान्त जनों के प्रतिनिधि बन कर आते हैं, उनके माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार उस युग को उच्च, संभ्रांत एवं राजपुरुषों का वर्ग गौतम बुद्ध की चेतना के अतल प्रभाव में प्रवाहित होता जा रहा था । इतिहासकार तो यहाँ तक कहते हैं कपिलवस्तु का समूचा राजवंश-महाराजा शुद्धोदन, उनकी पत्नी पौत्र राहुल के साथ-साथ राज कर्मचारियों का उच्च वर्ग भी बौद्धधर्म में दीक्षित हो गया था । आर्य मैत्रेय का चित्रण उसी वर्ग चेतना का प्रतीक बन कर हुआ है । क्योंकि अन्तिम अंक में समाचार मिलता है कि आर्य मैत्रेय ने भी बुद्धमत में दीक्षा ले ली है । वह दीक्षा कैसे लेंगे, इसकी ध्वनि तो उसी समय मिल जाती है कि जब वे कामोत्सव में भाग न ले सकने की अपनी तथा अन्य लोगों की असमर्थता प्रकट करने के लिए नन्द के राजभवन में आते हैं :

''मैं दिन भर सोचता रहा कि आप से कहूँ परन्तु कह नहीं पाया । कामोत्सव का आयोजन यदि आज स्थगित

करके कल रखा जा सकता....।''

क्योंकि वे जानते हैं कि वह कल कपिलवस्तु के इतिहास में आने वाला नहीं । क्योंकि गौतम बुद्ध का प्रभाव इस सीमा तक बढ़ चुका है कि उसकी अन्तिम परिणति कामोत्सवों का कभी न होना है । इसी दृष्टि से पात्र का क्षणिक प्रवेश भी नाटकीय परिवेश में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

गौण पात्रों में बाकी रह जाती है निहारिका । उसका प्रयोजन मात्र राजमहल की स्थिति एवं सामान्य सेविका तक ही सीमित है । लगता है कि उसके बिना नाटक में किसी प्रकार की कमी नहीं आती । पर मुख्य दासी अलका के अभाव या व्यस्तता में राजरानी की सेवा के लिए उसे प्रस्तुत बताना ही उसके अस्तित्व का मात्र प्रयोजन है ।

भिक्षु आनन्द के बारे में हम ऊपर कह चुके हैं । वह तीसरे अंक में गौतम बुद्ध की छाया का सजीव रूप बन कर हमारे सामने आता है । उसका अस्तित्व द्वन्द्व की चरम सीमा पर जूझते नन्द के चरित्र को, उसके द्वन्द्व की प्रबलता प्रदान करता है, ताकि वह अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही खोज पाने में समर्थ हो सके । यों लगता है कि नाटककार यदि इस पात्र को रंगमंच पर न लाता तो छायाभास के रूप में भी गौतम बुद्ध का अस्तित्व रहता ही । नाटकीयता एवं प्रभविष्णुता की दृष्टि से भिक्षु आनन्द का न आना अधिक सार्थक हो सकता था । परंतु जब नाटककार उसे मंच पर ले ही आया है, तो यही माना जा सकता है कि इसका प्रयोजन नन्द के द्वन्द्व को तीव्रता प्रदान कर किसी एक दिशा की ओर अग्रसर करना ही है । हमारे विचार में भिक्षु आनन्द के चरित्र की सार्थकता केवल इसी दृष्टि से अंकित की जा सकती है अन्यथा उसका कोई प्रयोजन नहीं ।

मुख्य पात्र :- ऊपर हमने प्रायः पाँच मुख्य पात्रों की गणना की है । वे पात्र हैं - नन्द, सुन्दरी, अलका, श्यामांग और अप्रत्यक्ष रूप से गौतम बुद्ध ! इनमें से गौतम बुद्ध तथा श्यामांग के बारे में हम ऊपर काफी कुछ कह चुके हैं । गौतम बुद्ध का परोक्ष व्यक्तित्व दो परस्पर विरोधी दर्शनों के द्वन्द्व का मूल आधार है और इसी दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण है । तभी हमने उनकी गणना मुख्य पात्रों में की है । इसी प्रकार श्यामांग नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक है । इस दृष्टि से उसका प्रसंग वस्तु-विन्यास में अलग होते हुए भी उनकी चारित्रिक चरम परिणति नन्द के चरित्र एवं व्यक्तित्व में ही अन्तर्निहित है । यों श्यामांग को हम प्रतीक चरित्र ही कहेंगे । उसका व्यक्तित्व सामान्य सांसारिक व्यक्तित्व से हटकर चित्रित किया गया है । वह मानव की अन्तर्मुखी चेतना का प्रतीक है, जो अपनी अन्तर्मुखी विचारवानता के कारण जगत एवं जीवन की बाह्य यथार्थों के साथ जुड़ नहीं पाती । कमल ताल में वास्तव में वह अपनी चेतनागत छाया को निहारता है-जिसमें परोक्षतः नन्द की अन्तश्चेतना के एक पक्ष को भी ग्रस्त कर रखा है । उससे बच पाने की दृष्टि से ही वह कमल ताल में पत्थर फेंकता है- जैसे नन्द बौद्ध-मत चेतना में अनेकशः बचाव का प्रयत्न करता है । कमलताल में पत्थर फेंकने की उसकी चेतना से अपरिचित सुन्दरी उसे अन्धकूप में बन्दी बना देने का आदेश देती है, लेकिन कुछ ही देर बाद अलका के प्रयत्न से वह मुक्त भी कर दिया जाता है । यों उसे अलका का प्रेमी भी बताया गया है, परन्तु वह प्रेम भावागत ही अधिक है, प्रत्यक्ष नहीं । इसके बाद दूसरे अंक से श्यामांग रंगमंच पर तो नहीं आता, हाँ उसका ज्वरग्रस्त प्रलाप चेतना की एक अनवरत झंकार बन कर बीच-बीच में अवश्य मुखरित होता रहता है और अन्तिम क्षण तक, जब तक कि नन्द दुबारा गृह-त्याग नहीं कर देता, बल्कि उसके बाद भी-''बस एक किरण....केवल एक किरण...।'' पर वह किरण कौन-सी है, उसके चरित्र से स्पष्ट नहीं हो पाता । इस अस्पष्टता में ही उसकी चारित्रिक सार्थकता ही स्यात् नाटककार का प्रयोजन भी है ।

मुख्य पात्रों में दूसरा सामान्य पात्र अलका है । उसका अस्तित्व सुन्दरी के अस्तित्व के समान नाटक में आद्यन्त

बना रहता है । अक्सर समालोचक अलका के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को उसी प्रकार नायिका सुन्दरी की बौद्धिकता का प्रतीक मानते हैं, जैसे कि श्यामांग को नन्द की अन्तर्मुखता का । काफी सीमा तक अलका के अस्तित्व-संबंधी यह विचार उचित है । क्योंकि उसका मूल्यांकन का मानदण्ड मात्र यही हो सकता है । वास्तव में सुन्दरी का बौद्धिक द्वन्द्व अलका के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पा सका है । गौतम बुद्ध के प्रभाव एवं देवी यशोधरा के भिक्षुणी बनने के प्रसंग में वह कहती है :

''देवी यशोधरा की बात आप जाने दें । परन्तु प्रजा के बच्चे-बूढ़ों तक में क्यों इतना उत्साह है ? वे संध्या होते ही क्यों नदी-तट की ओर उमड़ पड़ते हैं...? क्या इसका अर्थ यही नहीं कि .....?''

वास्तव में यह प्रश्न सुन्दरी का बौद्धिक द्वन्द्व है जो अलका के मुख से अभिव्यक्त हुआ है । इसी प्रकार श्यामांग द्वारा कमलताल में पत्थर फेंकने की घटना को लेकर भी सुन्दरी की बौद्धिक अभिजात्य एवं शासन का भाव अलका के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाता है । वह श्यामांग से कहती है-''क्यों नहीं स्पष्ट कह देते कि तुम्हारा मन कहीं और था और तुम्हें पता नहीं चला कि कब तुमने पत्थर उठाए और कब फेंकने लगे ?'' स्पष्टत: यह बौद्धिक तर्क सुन्दरी का ही प्रतिनिधित्व करता है । इसी प्रकार अलका के अस्तित्व को अन्य प्रसंगों में भी सुन्दरी के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व में अन्तर्निहित करके देखा जा सकता है । वह आद्यन्त सुन्दरी की बौद्धिक चेतना का ही प्रतिरूप प्रस्तुत करती है और इसी में उसके अस्तित्व की सार्थकता भी है ।

शेष रह जाते हैं दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पात्र ! नाटक के नायक और नायिका - नन्द और सुन्दरी । नन्द का चरित्र एवं अन्त: व्यक्तित्व युगों-युगों से संशय के द्वन्द्व से ग्रस्त व्यक्ति का चरित्र एवं व्यक्तित्व है । वह आद्यान्त इसी द्वन्द्व भाव से पूर्णतया आक्रान्त रहता है । उनकी इन संशयास्पद आक्रांतियों को अत्यधिक सशक्त एवं प्रखर रूप में रूपायित करने का सफल प्रयत्न किया गया है । आरंभ से ही लगने लगता है कि नन्द का मन अपनी स्वरूपवती प्रियतमा सुन्दरी और अपने बड़े भाई गौतम बुद्ध की ओर समानान्तर रूप से आकर्षित है । सुन्दरी के सौंदर्य एवं व्यक्तित्व में कुछ आतंकित सा प्रतीत होते हुए भी नन्द उसे एवं प्रवृत्ति मूलक अन्य भौतिक सुखों से, कम से कम छुटकारा तो नहीं ही चाहता । उसके कुछ कार्यों को असंगत एवं क्रोधोत्पादक मानते हुए भी नन्द सुन्दरी पर कभी अपना क्रोधापन्न भाव प्रगट नहीं होने देता । पहले अंक में आखेट से लौटकर सुन्दरी द्वारा आयोजित किए जा रहे कामोत्सव के संबंध में वह कुछ लोगों से मिलने के बाद ही सुन्दरी के पास आता है । लोगों से मिलने के बाद वह यह तथ्य जाने चुका है कि उत्सव में कोई नहीं आएगा । फिर भी वह सुन्दरी के पास पहुँच कर उसके आयोजन में कोई बाधा नहीं प्रस्तुत करता । वह केवल संशय-भाव प्रगट करके रह जाता है ।

''हाँ, मैं कह रहा था कि संभव है उतने लोग न भी आए'' जितने लोगों के आने की हम आशा कर रहे हैं ।'' देवी यशोधरा से मिलने जाने की बात भी नन्द सुन्दरी को संत्रस्त भाव से बता पाता है । अत: स्पष्ट है कि सुन्दरी के सामने इस संशयी एवं द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति का व्यक्तित्व अन्तिम क्षणों तक प्राय: दबा ही रहता है । इसका स्पष्ट कारण यही है कि वह स्वभाव का विलासी ही अधिक है और इस कारण वह सुन्दरी के यौवन सौन्दर्य के पूर्णतया अधीन है । वास्तव में विलासी स्वभाव वाला व्यक्ति स्वभावत: ऐसा हो जाया करता है ।

दूसरी ओर नन्द अपने भाई बुद्ध की ओर भी आकर्षित है । उसके दर्शन ने भी उसकी अन्तश्चेतनाओं को बुरी तरह ग्रस्त कर रखा है । मृग आखेट की घटना से यह तथ्य एकदम उजागर हो जाता है । सुन्दरी के पूछने पर वह अपनी थकान को शारीरिक और मानसिक अधिक बनाता है । वह कहता है - ''सच, थकान उतनी शरीर की नहीं

जितनी मन की है । मृग मेरे बाण से आहत नहीं हुआ इससे मन को उतना वेद नहीं, जितना इससे....कि जब थक कर लौटने का निश्चय किया तो वही मृग...थोड़ी ही दूर आगे...रास्ते में मरा हुआ दिखाई दिया । ''मृत्यु का यह अशरीरी आतंक बुद्धगत चेतना का ही आतंक है । इसी प्रंसग में वह आगे कहता है-'मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि मरा हुआ मृग भी इतना सजीव लग सकता है । ऐसे लग रहा है जैसे हाथ लगाते ही वह आशंका से काँप जाएगा और सहसा उठकर भाग खड़ा होगा । पर मैं उसे हाथ भी तो नहीं लगा सका । आखेटकों ने उसे उठा लाना चाहा, तो मैंने मनाकर दिया । कहा कि उसे वहीं पड़ा रहने दो उसी रूप में मृत और जीवित ।'' और अगले रोज जब वह केश-कर्तन के बाद उस मृग को देखने जाता है तो उसकी ठठरी मात्र देखकर कांप उठता है । अज्ञात रूप से उसका मन बुद्ध के निवृत्ति मार्ग की ओर अधिक झुक जाता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नन्द के अन्तः व्यक्तित्व में सुन्दरी को लेकर प्रवृत्ति और बुद्ध के प्रभाव से निवृत्ति के भाव एक साथ पनप रहे हैं । भिक्षा के लिए द्वार आए गौतम बुद्ध के खाली हाथ लौट जाने की लात जानने के बाद क्षमा-याचना के लिए भी वह तभी उनके पास जाता है, जब सुन्दरी इस बात के लिए स्पष्टतः जाने की आज्ञा दे देती है । यहाँ नन्द के मन में अपने ही मन के प्रति चुनौती का भाव स्पष्टतः देखा जा सकता है । यहाँ भीतरी द्वन्द्व एवं संशय का भाव भी स्पष्टतः विद्यमान है । वास्तव में वह अपने भाई के बिना भिक्षा लिए लौट जाने की बात जान कर अपने प्रति भाई की तुलना में हीनभावना से ग्रस्त हो जाता है । वह उसी हीनता ग्रंथि से मुक्ति पाने के लिए उनके पास जाना चाहता है और उस विश्वास के साथ जाना चाहता है कि सुन्दरी का रूप-यौवन और प्रेम का आकर्षण उसे वहाँ कभी भी अधिक देर तक रूके नहीं रहने देगा । स्पष्टतः उसकी स्थिति दो प्रकार के गुरूत्वाकर्षणों में उलझे किसी धात्विक तत्व के समान हो गई है कि जो बीच में लटक जाता है और दुहरे आकर्षणों के कारण इधर-उधर नहीं हो पाता । यहाँ नन्द के व्यक्तित्व में दोनों ओर चुम्बक है- एक और सुन्दरी के रूप-विलास का चुम्बक, दूसरी ओर बुद्ध के निर्वाण-मार्ग का चुम्बक । इसी का प्रबल चित्रण नाटक में नन्द के चरित्र में बड़ी सजीवता के साथ हुआ है ।

क्षमा-याचना के लिए गौतम बुद्ध के पास जाकर नन्द वहाँ भीड़-भाड़ में उनसे कुछ कहना चाहता है वह अपना भिक्षा-पात्र उसकी ओर बढ़ा देते हैं । वह विरोध स्वरूप फिर कुछ कहना चाहता है, तो वे उसे संकेत से अपने पीछे आने की बात कहते हैं और वह चुम्बकीय आकर्षण से खिंचा-सा चला जाता है । वहाँ ले जाकर वे पता नहीं उसे क्या समझाते हैं कि वह निर्विरोध अपने केश कटवा लेता है । यहाँ ध्यातव्य है कि केश कटवाने पर भी वह मानसिक दृष्टि से अपने आप को उनकी बातों से अप्रभावित ही मानता है । उसके बाद अपने इसी अप्रभावित रहने के भाव को व्यक्त करने के लिए वह बिना भिक्षा पात्र ग्रहण किए और बुद्ध को नमस्कार किए वह वहाँ से वन की ओर चल देता है । वन में होनेवाला उसका व्याघ्र के साथ द्वन्द्व वास्तव में उसके मन में विद्यमान इस आक्रामक वृत्ति का द्योतक है कि वह क्षत्रिय है और निवृत्ति मार्ग से अप्रभावित है । पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसे हम बुद्ध के प्रभाव के कारण समस्त आक्रामक वृत्तियों में परिहार का उपाय भी कह सकते हैं । केश कटवाना, वन में जाकर पहले दिन के आखेट में आहत भृग की ठठरी देखना, फिर व्याघ्र से द्वन्द्व करना उसके बाद घर की ओर आवर्तन और फिर प्रत्यावर्तन आदि समस्त बातें नन्द के संशयशील अन्तर्द्वन्द्व की ही अभिव्यक्ति है । इतने संघर्ष एवं द्वन्द्व के बाद भी वह एक निश्चित मार्ग पर बढ़ पाने में असमर्थ ही रहता है । भिक्षु आनन्द के साथ अपने घर लौट कर उसे अपने मध्य की विलास सामग्रियों से परिचित कराने के बाद वह कहता है :

''हाँ सुन्दरी को तो तुमने देखा नहीं । भिक्षु हो इसलिए देखोगे भी नहीं । सम्भवतः तुम्हारी दृष्टि में उसका यहाँ होना यथार्थ नहीं, केवल एक भ्रांति है ।....परन्तु उस तरह मैं एक भ्रांति नहीं हूँ ? तुम एक भ्रांति नहीं हो ? तुम्हारा कहा हुआ हर वाक्य भ्रांति नहीं है ?

और उत्तर में जब भिक्षु आनन्द कुमार नन्द का समझाने का प्रयत्न करने को उद्यत होता है, तो नन्द एक प्रकार से उसके तर्कवाद को व्यर्थ बताते हुए कहता है-''और नहीं भिक्षु !...यह बातों का खेल हमारे बीच और नहीं खेला जाएगा । स्वर्ग और नरक, वैराग्य और विवेक, शील और संयम, आर्यसत्य और अमृत-मैं जानता हूँ वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो । मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कहे देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है ।''

स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध के समक्ष असमर्थ रहने पर भी नन्द का मन नहीं बदल पाता । वह सांसारिक ही अधिक रहता है । टूटे दर्पण में अपनी विद्रुप हो रही आकृति को निहारकर वह जैसे अपने-आप से ही कहता है-''उन्होंने केश कटवा दिए, तो क्या व्यक्ति के रूप में अधिक सत्य हो जाता ? कौन कह सकता है कि भ्रांति वस्तुतः किसे है, उन्हें या मुझे ?'' स्पष्टतः नंद बुद्ध मत को ही भ्रांति मानता हुआ प्रतीत होता है । पर द्वन्द्व का अन्त फिर भी नहीं हो पाता । वह निरन्तर चलता ही रहता है - ''उन्होंने कहा, मैं-मैं नहीं हूँ, तुम-तुम नहीं हो, वह वह नहीं है ।...सब किसी ऊँगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, न जिनका होना न से होने से भिन्न नहीं है ।'...पर मैं पूछता हूँ कि जब होने न होने में कोई अन्तर नहीं है तो मेरे केश क्यों कटवा दिए ?'' और वह उसका द्वन्द्व प्रखर से प्रखरतम होते हुए अभिव्यक्त होने लगता है-''कटवा ही दिए, तो उससे अन्तर क्या पड़ता है । कुछ ही दिनों में फिर नए उग आएँगे ? ...अन्तर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखे बदल जातीं । मेरे हृदय में तुम्हारे (सुन्दरी) लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है ।... केश-कटवाकर भी वह सुन्दरी अर्थात् प्रवृत्ति की छाया से अनावृत्त एवं मुक्त नहीं हो पाता । सुन्दरी और बुद्ध दोनों ही उसकी अन्तःप्रवृत्तियों की आवश्यकता के दो कोण हैं । उसका द्वन्द्वग्रस्त शब्दावली से यही अन्ततोगत्वा प्रति-ध्वनित होता-सा प्रतीत होता है ।

दोनों ओर समान चुम्बकीय आकर्षण नंद के लिए है । किस ओर उसके लिए अधिक आकर्षण है, उसका गंतव्य दोनों में से कौन है, इस बात का निर्णय नंद नहीं कर पाता । जब सुन्दरी अर्धनिद्रित अवस्था में उसकी रूण्ड-मुण्ड आकृति को देखकर चिल्ला उठती है और अलका के बताने से पर वह कहती है-'वे नहीं आए, अलका । जो लौटकर आया है वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है...।'' तब लगता है कि नंद की संशय एवं द्वन्द्व में ग्रस्त चेतना को एक झटका लगा है । क्योंकि वह चौंककर मानो अपने-आप से ही कहता है :

''कोई दूसरा ही ! ...तो, क्या सचमुच में कोई दूसरा ही हूँ ? भिक्षु ने यही कहा था..तुम भी अब यही कह रही हो । ...परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि मैं कोई दूसरा कैसे हूँ ? मात्र इसलिए कि किसी ने हठपूर्वक मेरे केश काट दिए हैं ? और नन्द को दो धार पर झूलती अपनी वास्तविक वर्तमान स्थिति का आभास होने लगता है-''तब नहीं लगा था, पर अब लगता है कि केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है । घर से...और अपने से भी अकेला ! जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रही था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है ।'' इतना ही नहीं, वह अपने अस्तित्व के प्रति भी संदिग्ध हो उठता है...''अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है...।'' और यही प्रश्न चिह्न नन्द की चेतना एवं व्यक्तित्व

के सामने आद्यान्त लगा रहता है । उसकी नाटक में जो अन्तिम परिणति दिखाई गई है, वह स्वेच्छया स्वीकृत नहीं, बल्कि प्रश्न चिह्न के आगे कुछ डॉट्स लगाकर एक और प्रश्नचिह्न ही जड़ दिया गया है । यों परोक्ष रूप से एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम उसके दुबारा गौतम बुद्ध के पास लौट जाने की स्थिति को प्रश्नचिह्न का परिहार एवं अंतिम मार्ग निर्धारण भी मान सकते हैं, वह तो अनुमान है, नाटक में कुछ भी स्पष्ट नहीं ! क्योंकि नाटककार के मत में नन्द मात्र एक द्वन्द्व ग्रस्त आधुनिक व्यक्ति-चेतना ही है ।

सुन्दरी के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हुए भी नन्द उसको अन्ततः ठीक प्रकार से समझ नहीं पाता । इसी कारण रूण्ड-मुण्ड स्थिति पर किए गए सुन्दरी के आक्षेप को-''वे नहीं आए अलका ? जो लौट कर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा है ।'' वह ठीक नहीं समझ पाता और अपनी ही विच्युतियों के कारण सुन्दरी के प्रति विक्षोभ वितृष्णा से भर कर गौतम बुद्ध के पास कुछ प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए वापिस चल देता है कभी न लौटने के लिए । वह सुन्दरी की उक्ति का मर्म नहीं समझ पाता कि उसने अपने व्यवहार से उसके विश्वास को खण्डित करके चौराहे पर फेंक दिया है । यह तथ्य सुन्दरी की इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि....''इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग !...बस, इतना ही तो इनकी समझ में आं पाता है !'' स्पष्टतः सुन्दरी का क्षोभ विश्वास भंग का परिणाम है, किन्तु संशयी नन्द की परिणति अपनी ही अबूझता के कारण वही होती है जो ऐसी समझ वाले व्यक्ति की हो सकती है । वह आज की दृष्टि से एक टूटा व्यक्तित्व ही बन पाता है । चुनाव एवं निर्णय की स्थिति न होने के कारण ही नन्द का व्यक्तित्व अन्त तक अभिशप्त सा बना रहता है । इतना ही नहीं, नाटक के अनुसार उस अभिशप्त स्थिति की अनिच्छा से ही सही, अन्ततोगत्वा ओढ़ना पड़ता है । यह उसकी और उसके रूप में आधुनिक व्यक्ति की वास्तव में पराजय ही है उस पराजय का स्वर ही नन्द के व्यक्तित्व में मुखर हुआ है । युग-बोध की दृष्टि से चरित्र चित्रण को सफल ही कहा जाएगा ।

सुन्दरी का नाटकीय चरित्र एक दृष्टि से अधिक स्पष्ट है कि उसका मन नन्द के समान दुविधाग्रस्त नहीं है । वह दो चुम्बकीय आकर्षणों में पड़कर अधर में लटकी दिखाई देती है । अभिजात वर्ग का सर्वांगीण सौंदर्य सुन्दरी के व्यक्तित्व का प्रमुख आकर्षण बिन्दु है । शारीरिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार के सौंदर्य की वह एकान्त स्वामिनी है । उसका दृष्टिकोण स्पष्टतः उपयोगिता एवं उपभोगितावादी है । वह जीवन की सार्थकता उसके समर्दिक् उपभोग में ही स्वीकारती है । इसे दृष्टि से उस हम नाटक में प्रवृत्ति मार्गी जीवन-दर्शन का प्रतिनिधि पात्र एवं प्रतीक पात्र कह सकते हैं । किसी भी प्रकार की कामनाओं का स्थगन उसे सह्य नहीं है । नन्द एवं आर्य मैत्रेय के मुख से कामोत्सव का आयोजन एक दिन के लिए स्थगित कर देने की बात सुनकर वह कहती है ।

''कामोत्सव कामना का उत्सव है, आर्य मैत्रेय ! मैं अपनी ओज की कामना कल के लिए टाल रखूँ.क्यों ! मेरी कामना मेरे अन्तर की है । मेरे अन्तर में उसकी पूर्ति भी हो सकती है । बाहिर का आयोजन उसके लिए उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कुछ लोग समझ रहे हैं ।''

लोगों की उसे चिन्ता नहीं । वह रूप-गर्विता और कुछ-कुछ अहं-पीड़िता भी है । इन्हीं दोनों भावों में वह कुमार नन्द को सदा-सर्वदा के लिए आबद्ध रखना चाहती है । उसे यह विश्वास भी है कि उसके रूप का आकर्षण नंद को कहीं जाने कहीं बिखरने नहीं देगा । वास्तव में सुन्दरी का यह विश्वास नंद के मन-मस्तिष्क पर आतंक की सीमा तक छाया भी तो हुआ है ।

सुन्दरी के मन में नारी स्वभाव सुलभ ईर्ष्या का भाव काफी मात्रा में विद्यमान है यशोधरा के प्रति तो यह

ईर्ष्या-भाव इतना प्रबल है कि वह उसी दिन अपने कामोत्सव का आयोजन करती है, जिसके अगले दिन उसने प्रव्रज्या ग्रहण करनी है । श्यामांग का इस दृष्टि से व्यंग्य-भाव अत्यंत सार्थक है कि - "...जब आप के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेष धारण कर रखा है । ...कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुकी रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ...यहाँ रात भर नृत्य होगा - अचानक चलेगा...।" कामोत्सव ईर्ष्याजन्य प्रतिकार-भाव का ही वास्तव में आयोजन है । इस दृष्टि से सुन्दरी का व्यक्तित्व ऊपर नहीं उठ पाता । क्योंकि उसकी ईर्ष्या का कोई प्रत्यक्ष कारण भी तो नहीं । इस बात को नन्द भी अच्छी प्रकार समझता है । इसी कारण ही तो वह देवी यशोधरा का सुन्दरी के साथ नंद को मिलने आने का आमंत्रण पाकर भी वह अकेला ही वहाँ मिलने चला जाता है । वहाँ जाने की सूचना भी वह सुन्दरी को डरते-डरते ही देता है । उनके आशीर्वाद देने की बात को सुन्दरी आत्मवंचना मान कर कहती है-"आत्मवंचना की भी एक सीमा होती है । आज के दिन वे आशीर्वाद देंगी और मुझे मन में क्या सोच रही होंगी, मैं अच्छी तरह जानती हूँ।"

सुन्दरी एक रूप-गर्विता एवं अहं वादी नारी है । अपने पर वह बहुत अधिक विश्वास करती है । इस तथ्य का आभास उसकी इस उक्ति से भी मिल जाता है - "शायद अपने पर बहुत निर्भर करती हूँ । सोच लेती हूँ कि बात मन में आने से ही पूरी हो जाती है ।" अपने इसी विश्वास एवं अहं के वशीभूत होकर ही वह बुद्ध एवं यशोधरा के सम्बन्धों के सम्बन्ध में कह देती है कि -"...देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँधकर अपने पास रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते ? गौतम बुद्ध बनकर नदी-तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते ?" इतना ही नहीं अपनी ही अहम्मन्यताओं में वह और भी अधिक आगे बढ़कर आधुनिक नारियों के दर्प में कहने लगती है..."नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका आकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है ।" यहाँ यशोधरा के प्रति ईर्ष्या का भाव तो है ही सही, आत्मविश्वास का अतिरेक एवं भ्रान्त धारणाओं का अविवेक भी विद्यमान है । इस दृष्टि से सुन्दरी को बौद्धिक द्वन्द्व से ग्रस्त नारी भी कहा जा सकता है । जिसके लिए सर्वांशतः दृश्य जगत का स्थूल एवं भौतिक रूप ही सबकुछ है । इतना सब होते हुए भी उसके व्यक्तित्व का जो सबसे उजागर पहलू है वह है नन्द के प्रति अथक प्रेम और उस प्रेम के प्रति अकाट्य विश्वास । इसी विश्वास से अनुप्रेरित होकर वह भिक्षा न पाकर लौट गए तथागत के पास नन्द को जाने देती है । उसे विश्वास है कि नन्द उसके रूप-यौवन और प्रेमी की कोमल डोरियों को कम भी तोड़ नहीं सकता । परन्तु नाटक के अन्त में उसके विश्वास को ठेस लगती है । नन्द केवल भिक्षु ही नहीं बन जाता, बल्कि उसके पास वापिस आकर उसकी उक्ति के कर्म को न समझकर वापिस लौट जाता है । यह ठेस उसे आहत कर देती है और उसकी अन्तर्व्यथा इन शब्दों में रूपायित होती है ।

"इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग !...बस इतना ही तो इनकी समझ में आ पाता है...इसे अधिक कभी समझ भी नहीं पाएँगे ये...कभी नहीं समझ पाएँगे ।"

सुन्दरी के व्यक्तित्व में आधुनिक नारी-जीवन के तत्त्वों का अनेकशः समावेश हुआ है । वह अभिजात्य वर्ग की आधुनिक नारी के समान अपने प्रत्येक सामान्य या विशेष सामयिक या असामयिक कार्य को एक चिरस्मरणीय आयोजन बनाना चाहती है तभी तो वह अपने कर्मचारियों से कहती है-"हाँ रात के अन्तिम पहर तक ! भोज, आपानक और नृत्य; वर्षों तक याद बनी रहनी चाहिए लोगों के मन में ।" उसके जीवन का दर्शन चार्वाक दर्शन के निकट है । या उसे आज के Eat, drink and be mary के पाश्चात्य सिद्धान्त पर आधारित कह सकते हैं । वह अलका से कहती है-"रात भर नगरवधू चन्द्रिका के चरणों की गति से इस कथा की हवा काम्पती रहेगी । हवा काम्पती रहेगी, और ढुलती रहेगी मदिरा, उसकी आँखों से, उसके एक-एक अंग की गोराई से..।" अन्यत्र अनेक उक्तियों से भी सुन्दरी का जीवन-दर्शन अनेकशः स्पष्ट होता है ।

सुन्दरी के व्यक्ति के अभिजात्य वर्ग की नारियों जैसा शासन को भाव भी विद्यमान है और उस जैसी शालीनता एवं अक्रोध का भाव भी । कहीं-कहीं उसी प्रकार वह हठी भी है । इसी कारण कभी-कभी वह अपनी बातों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने लगती है-''क्यों ? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमंत्रण पा कर अपने को कृतार्थ न समझा हो ?'' इसी कारण जब कामोत्सव में भाग लेने के लिए स्वयं नन्द के अनेक लोगों के पास जाने पर भी न आने की बात सुन्दरी को पता चलती है, तो वह अत्यधिक विक्षुब्ध हो उठती है-''मेरे उत्सव में लोग अनुरोध करने से आएँ, इससे उनका न आना ही अच्छा है ।'' और उसका उद्वेग अपनी असफलता पर इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह आर्य मैत्रेय से कहती है-''आर्य मैत्रेय यदि जाना चाहते हैं, तो इन्हें भी जाने दीजिए । कह दीजिए कि जिनके यहाँ से ये होकर आए हैं, जाते हुए भी एक बार उनके यहाँ होते जाएँ । उन सबसे कह दें कि मेरे यहाँ आने के लिए किसी कल की प्रतीक्षा में वे लोग न रहें । वह कल अब उनके लिए कभी नहीं आएगा, कभी नहीं....।'' इस प्रकार निर्णय लेने में उतावलापन व्यक्तित्व के खोखलेपन का ही द्योतक है और यह खोखलापन आज सर्वत्र नारी जगत में देखा जा सकता है । उनके दुखद एवं अशान्तिकारक परिणाम भी उन्हीं को भोगने पड़ रहे हैं ।

अभिजात्य क्षमा का भाव भी सुन्दरी में विद्यमान है । यह श्यामांग-प्रसंग में स्पष्ट हो जाता है । अन्त में सुन्दरी के चरित्र के संबंध में समग्रत: कहा जा सकता है कि इस में भी खण्डित होने वाले तत्त्व ही अधिक है । इसी कारण अन्त में अपने ही दर्पण के समान उसका व्यक्तित्व भी खण्डित होकर रह जाता है । ऐतिहासिक एवं सामयिक दोनों परिवेशों में सुन्दरी के व्यक्तित्व का खण्डित भाव वास्तव में सार्थक है । क्योंकि वह जिस सांचे में ढला है, उसमें अन्यथा गति संभव भी तो नहीं हो सकती थी । इस दृष्टि से उसे सार्थक ही कहना चाहिए ।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' के सभी प्रमुख पात्रों के चरित्र द्वन्द्व-गर्भित हैं । युग-युगों की द्वन्द्व पीड़ित मानवता का प्रतिनिधित्व करते हैं अपनी-अपनी चेतना एवं परिवेश के अनुरूप सभी के चरित्र समर्थक हैं । नाटकीय कथ्य एवं मन्तव्य की दृष्टि से भी सभी के व्यक्तित्व एक निश्चित स्वस्थ ढाँचे में ढले हुए हैं । उन सब का अपना व्यक्तिगत व्यक्तित्व भी है और वे लोग समष्टिगत चेतनाओं एवं बिम्बों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं । ऐतिहासिक होते हुए भी पात्र युगीन चेतनाओं, विशेषत: द्वन्द्वग्रस्त मानसिक एवं बौद्धिक चेतनाओं के कुशल चितेरे हैं । नाटककार ने सूक्ष्म कुशलता से समस्त ऐतिहासिक पात्रों को काल एवं तदनुकूल परिस्थितियों के साँचे में ढाला है इसी कारण उनके चरित्रों में सहज मानवीय सजीवता, संवेदनशीलता और जीवन्त रूपमयता अधिक है । ऐतिहासिकता का तो उन्होंने आवरण मात्र ही ओढ़ रखा है । उस आवरण के भीतर वे विशुद्ध मानव है-किसी एक युग के नहीं, बल्कि सार्वकालिक मानव और इस मानवीय संवेदन में ही उनकी चारित्रिक सार्थकता अधिक संगत है ।

35.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस के मुख्य पात्रों का परिचय दीजिए ।
2. लहरों के राजहंस के पात्रों का परिचय दीजिए ।

लहरों के राजहंस - ऐतिहासिकता

पाठ-संरचना

36.0 उद्देश्य
36.1 परिचय
36.2 लहरों के राजहंस : ऐतिहासिकता
36.3 अभ्यास के प्रश्न

36.0 उद्देश्य

लहरों के राजहंस भी उस अर्थ में ऐतिहासिक नाटक है जिस अर्थ में आषाढ का एक दिन। नंद और सुंदरी की कथा केवल कहने भर के लिए ऐतिहासिक है, उसकी विस्तृत सूचना इतिहास में नहीं मिलती। ऐतिहासिक तथ्य संभवत: इतना ही है कि नवगृह प्रवेश और राज्याभिषेक के अवसर पर नंद भिक्षु बन गया था। बाकि कथासूत्र सौन्दरानंद में अश्वघोष की सर्जनात्मक काव्य प्रतिभा द्वारा सर्जित है। काव्यग्रंथ होने के कारण उसमें कवि की कल्पना का समावेश स्वाभाविक है। इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस के ऐतिहासिकता से पाठकों को परिचय कराना है।

36.1 परिचय

मोहन राकेश ने सौन्दरानंद काव्य से कथा का ढांचा और चारित्रम का कुछ आधार ग्रहण किया है। नंद की कामाशक्ति सुंदरी का रूपगर्व नंद की दीक्षा, केश कर्तन आदि प्रसंग सौन्दरानंद के आधार पर रचे गये है। प्रसाधन संबंधी पूरा दृश्य तो उसी पर आधारित हे। दर्पण का आविल होना, बुद्ध का भिक्षाटन के लिए उपस्थित होना और लैट जाना और स्थिति की सूचना पर नंद का कॉप उठना इन सारे प्रसंगों का भी राकेश ने वहीं उसे उपयोग किया है। काम-आसक्ति और बुद्ध के अनुराग के बीच तनाव झेलती नंद की मनस्थिति भी सौन्दरानंद में अंकित है। उसमें नंद का चुपचाप बुद्ध के पीछे-पीछे चलते हुए सुंदरी के विशेषक के सुख जाने की चिन्ता करते जाना बडें मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। लहरों के राजहंस में नाटकीय शिल्प और मंच की सीमा के कारण यह द्वंद्व उस रूप में प्रत्यक्ष चित्रित करना संभव न था। सौन्दरानंद में द्वंद्व है- उसमें केश कर्तन कराते हुए नंद रोता है, दो पाटों के बीच पीसता अनुभव करता है ओर एक स्थल पर आकर वह घर लौटने के लिए सन्नद्ध भी दिखाई देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लहरों के राजहंस का द्वंद्व इस काव्य की ही देन है। अंत इतना है कि काव्य पार्थिव और अपार्थिव के द्वंद्व के बीच अपार्थिव का समर्थन करता है। राकेश ने द्वंद्व तो ग्रहण कर लिया , किन्तु आधुनिकता के आग्रह से उसे कोई दिशा देने से बचते

रहे। आधुनिक दृष्टि से यह ठीक भी था क्योंकि आज का आदमी दुविधा की स्थिति में बॅटा है और मात्र आध्यात्मिकता उसे अस्तित्व के किसी संकट का समाधान नहीं दे सकती।

36.2 लहरों के राजहंस : ऐतिहासिकता

लहरों के राजहंस नाटक का मूल आधार निश्चय ही ऐतिहासिकता है। परन्तु उस ऐतिहासिकता को संशोधित कर अपने मन्तव्य एवं युगीन सांचे में ढालने का अधिकार नाटककार आपने पास सुरक्षित रखा है। मोहन राकेश ने स्वयं भी इसका मूल उत्स महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानंद' नामक काव्य को स्वीकारा है। नाटक के नामकरण का आधार सौन्दरानंद काव्य का प्रस्तुत श्लोक है-

तं गौरवं बुद्ध गतं चकर्ष भार्यानुराग: पुनरायकर्ष।

सोडनिश्चयन्नपि ययौ न तस्थौ तरं स्तरंगेविर राजहंस।।''

अर्थात बुद्ध का गौरव उसे अपनी ओर आकर्षित करता था और अपनी भार्या का अनुराग अपनी ओर इस मानसिक दुविधापूर्ण स्थिति में उससे न तो गृहत्याग कर पत्नी के पास से जाते बन पा रहा था और न रूकते ही। उसकी स्थिति लहरों पर डोलते फिरते राजहंस के समान अस्थिर हो रही थी।

नाटक की समूची प्रक्रिया का आधार यही है इसी को यहाँ रूपायित किया गया है। आधुनिक जीवन का भाव-बोध ही यहाँ प्रबलता के साथ मुखर हुआ है। कथानक का स्तर निश्चय ही इस समन्विति के कारण अत्यधिक बढ़ा है। उसकी व्यवहारिकता और साहित्यिक उपयोगिता भी बढ़ गई है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को सजाने संवारने के लिए कल्पना का भी निर्युक्त प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से लहरों के राजहंस नाटक को कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमांस कहा जाता है।

कथ्य के मूल उत्स का उल्लेख करते हुए भूमिका में मोहन राकेश ने स्वयं स्वीकार किया है - ''कथा का आधार अश्वघोष का 'सौंदरानंद' काव्य है। परंतु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने कारण यह काल्पनिक भी है। क्योंकि साहित्य केवल इतिहास नहीं हो सकता। वास्तव में साहित्य इतिहास के नीरस विषयों को ढो भी नहीं सकता। इतिहास साहित्य तभी बन सकता है कि जब वह इतिहासकार के युगीन साँचे में ढल जाय। क्योंकि साहित्य कभी भी ऐतिहासिक समय बन्धों में बंध नहीं पाता। वह तो जीवन के नित्य तत्वों को लेकर ही अपने कलेवर का सृजन कर उसे सजाता सवाँरता है। साहित्य आपने समय में इतिहास को व्यापकता प्रदान करता है, ताकि उससे जनहित की साधना कर सके। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐतिहासिक कहे जाने वाले नाटकों में उसकी प्रामाणिकता अप्रमाणिकता को कोई भी प्रत्यक्ष महत्व नहीं रह जाता। सुरेश अवस्थी ने कहा है -''वास्तव में ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी हो सकती है जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा स्थितियों को 'अनैतिहसिक' और 'युगीन' बना दे तथा कथा के अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक अर्थ व्यंजना प्रदान कर दे।''

लहरों के राजहंस में घटनाएं नहीं, घटनाओं का समष्टिगत योगिक प्रभाव मुख्य हो जाता है। उसमें घटना-क्रम अधिक नहीं है, किया व्यापार है जो पात्रों की निजता और आत्मिक रूवरूप को उद्घाटित करता हैं सारे नाटक में घटना क्रम इतना ही है। कामोत्सव की योजना, बुद्ध का भिक्षाटन के लिए उपस्थित होना और लौट जाना, नंद का उनके पीछे पीछे जाना, बुद्ध का उसे दीक्षित करना, नंद का वन में जाकर व्याघ्र से जूझना और आनंद के साथ घर लौटने पर सुदरी की उपेक्षा पर फिर घर से निकल जाना। घटना क्रम पर आधारित किसी परम्परागत नाटक के लिए कथावस्तु

का यह ढांचा शायद स्वीकार्य नहीं होता किन्तु मोहन राकेश ने साधारण घटनाओं से असाधारण अर्थवत्ता उभारी है। और सारा नाटक आत्म की खोज का एक सफल माध्यम बन गया है। राकेश के लिए यह सारी यात्रा अपनी इस खोज में अंधेरी गुफा में प्रवेश करने के समान ही है सारा नाटक द्वंद्व के दो स्तरों पर आगे बढता है- द्वंद्व का एक स्तर वह है जहाँ मुख्य पात्र स्वयं अपनी विरोधी मनःस्थितियों को झेलता और दूसरा वह हैं जिसमें वह औरों के साथ विरोध में आता है। पर दोनों में इतना अंतः सूत्र अवश्य विद्यमान है कि दूसरों के साथ का विरोध भी उसके अपने अंतर्विरोध की बाहय परिणति है।

निश्चय ही लहरों के राजहंस का रोमांस 'ऐतिहासिक रोमांस' बन पाया है। साहित्य और इतिहास के संदर्भो का नाटक की भूमिका में राकेश ने स्वयं भी स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। इतिहास एवं साहित्य के संबंध की व्याख्या नाटककार ने इस प्रकार किया है- ' इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य को ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है।'' उपलब्धि क्षेत्रों की विभिन्नता के अतिरिक्त समय एवं आश्रय में भी विभिन्नता एंव वैविहय रहता है। इतिहास वास्तव में तालिका के रूप में युग-युगों के जीवन विस्तार की एक कड़ी ही है। युग-युगों की मानवता को इन्हीं कड़ियों ने ही राष्ट या देश आदि की सीमाओं में सुसम्बद्व कर रखा है। वह तो एक धारा है और उस अखिल धारा के सतत प्रवाह में उच्छलन उत्साह साहित्य भरता है। उन धाराओं की उच्दलनों का अंकन एवं मूल्यांकन भी अपने सामयिक परिवेश में साहित्य ही करता है। इन तथ्यों को स्वीकारते हुए मोहन राकेश अपनी भूमिका में आगे लिखते है-

''साहित्य इतिहास के समय से बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है। युग से युग को अलग नहीं, कई-कई युगों को साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज ' और कल उसके लिये आज और कल नहीं रह जाते समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़ जाते है जो जीवन को दिशा-संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य है।''

स्पष्ट है कि नाटककार की दृष्टि साहित्य में इतिहास के बिखरे तत्वों एवं तथ्यों को जोड़ने वाला साधन मानती है। उसका विश्वास है कि साहित्यकार इतिहास में से जीवनोपयोगी एवं जीवन के प्रत्येक युग से मेल खाने वाले तत्वों तथा सत्यों को संकलित कर उन्हें चिरन्तन स्वरूप प्रदान कर देता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए नाटककार आगे लिखता है - 'इस तरह साहितय में इतिहास अपनी यथा तथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी कल्पनओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नये और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है। यह निर्माण रूढिगत अर्थ में इतिहास नहीं है। उस इतिहास की खोज के लिये इतिहास की शोध पुस्तकों की और ही जाना चाहिये।'' नाटककार का मन्तव्य स्पष्ट है कि इतिहास के मूल वृन्त पर पुष्पित-पल्लवित होकर भी साहित्य की कोई सर्जनात्मक प्रक्रिया इतिहास नहीं बन जाती। उसमें से केवल ऐतिहासिक सत्यों को ही नहीं खोजा जाना चाहिये, बल्कि जीवन के अविराम एवं शाश्वत तत्वों को खोजा जाना चाहिये। इतिहास खोजने पर साहित्यक सर्जना अनैतिहासिक ही प्रमाणित होगा! अतः मात्र इतिहास के अन्वेषको को साहित्यिक सर्जनाएं न पढ़कर वियुक्त इतिहास की ही शरण लेनी चाहिए।

इन्हीं सन्दर्भो में हम लहरों के राजहंस नाटक की ऐतिहासिकता पर विचार कर सकते है। कहा जा सकता है कि यह नाटक ऐतिहासिक संदर्भो का व्यौरा नहीं, बल्कि इतिहास के बृन्त पर सहज एवं द्वंद्व ग्रस्त मानव-चेतनाओं की सर्जनात्मक प्रक्रिया है। इसी अर्थ में यह कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमांस भी है। इसी कारण नाटककार अपनी भूमिका

में आगे चलकर कहता है:

"प्रस्तुत नाटक का आधार भी ऐतिहासिक है, परंतु उतने ही अर्थ में जितना इसे (उपर दी गई) व्याख्या में आता है। कथा का आधार अश्वघोष का 'सौन्दरानंद' काव्य है: परंतु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है। काल्पनिक अश्वघोष का सौन्दरानंद भी है, क्योकि संस्कृत तथा पालि-साहित्य में जो कथा उपलब्ध थी, उसका अश्वघोष ने अपनी दृष्टि से परिक्षेपण किया है, एक काल्पनिक अन्विति से उसे विस्तार दिया है।"

यह विस्तार कैसा दिया गया है, इस बात को भी नाटककार ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वह कहता है- "'धम्मपद' की टीका में नंद और सुंदरी की जो टीका है, सौंदरानंद की कथा प्रभाव और विस्तार में उससे कहीं आगे जाती है। 'सौंदरानंद' में नंद और सुंदरी के जीवन के जो तथ्य आते है, उनके जीवन के सीमित ऐतिहासिक तथ्यों से कही भिन्न है, शोधग्रन्थों के प्रमाणिक तथ्य तो उनके संबंध में उपलब्ध ही नहीं है" फिर वास्तविकता यह है कि सौंदरानंद का सर्जक अश्वघोष स्वयं बौद्ध मतावलम्बी था। उसकी सर्जना का उद्देश्य बौद्ध मत की व्यापकता और प्रभाव को अंकित करना ही अधिक था। वह यह दिखाना चाहता था कि नंद जैसा विलासी व्यक्ति भी अन्तोगत्वा बुद्ध, के प्रभाव में आकर अपनी सुंदरी पत्नी के सौंदर्य जाल को तोड़ कर बौद्ध बन गया। इसके विपरीत यहां 'लहरों के राजहंस' नाटक के लेखक मोहन राकेश का अंतिम उद्देश्य अन्त को बुद्ध मत में दीक्षित होते दिखाना नहीं है, बल्कि द्वंद्वग्रस्त मानव चेतना के अन्त: स्वरूपों को उद्घाटन करना है। इस दृष्टि से भी इस नाटक में से मात्र ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करना संगत न होगा। यहां इतिहास केवल इतना ही है कि गौतम बुद्ध थे, उनके सौतेले भाई नंद थें और उनकी एक अत्यधिक सुंदरी रूपगर्विता पत्नी भी थी और बस। बाकी सब कुछ नाटककार का अपना प्रक्षेप कल्पना मात्र है। नाटककार की यह आत्म स्वीकृति देखिये:

"यहां नंद और सुंदरी की कथा एक आश्रय-मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अन्तर्द्वन्द्व उस अर्थ में यहां भी आधुनिक है, जिस अर्थ में आषाढ का एक दिन' के अन्तर्गत है।"

इस विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' नाटक में उतनी ऐतिहासिकता नहीं, जितनी कल्पना। अत: इसका मूल्यांकन विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से होना चाहिए, न कि इतिहास की दृष्टि से। यह ध्यातव्य है कि नाटक का साहित्यिक सत्य पूर्णतया सम्भावित है। असम्भाव्यता का दोषारोपण उस पर कतई नहीं किया जा सकता। वास्तव में नाटककार मोहन राकेश ने निजी अन्तश्चेतनाओं में प्रकम्पित-उद्वेलित चिरन्तन मन: अनुभूतियों को ही यहां ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रूपायित करने का प्रयत्न किया है। 'लहरों के राजहंस' के संदर्भ में यह स्वीकृति ही एक मात्र ऐतिहासिक सता है।

ऐतिहासिक पात्र :- सामानयतया कहा जा सकता है कि नाटक के दो ही पात्र पूर्णत: ऐतिहासिक है एक पात्र है राजकुमार नंद, प्रत्यक्षत: रंगमंच पर आकर समूचे वस्तु व्यापार को अभिव्यक्ति देता है। नाटककार की अपनी अन्तश्चेतनाओं का द्वंद्व नंद के माध्यम से ही अभिव्यक्ति प्राप्त कर सका है। नाटक का अन्तिम हल या अन्विति भी इसी को प्राप्त होते है। दूसरा विशुद्ध ऐतिहासिक पात्र है - गौतम बुद्ध परंतु रंगमंच पर उन्हें कहीं भी नहीं दर्शाया गया, जबकि यदि दर्शाया जाता तो नाटकीय व्यापार की प्रभविष्णुता में वृद्धि सम्भावित थी, उनके चरित्र का उद्घाटन आद्यन्त सांकेतिक संवादों एवं शब्दावली में ही हो पाता है। इतना निश्चित है कि उनका प्रभाव अकाटय है। उसने समूचे युग

परिवेश की चेतना को बुरी तरह प्रभावित कर रखा है। नाटक के पात्र श्यामांग के रूप में नाटककार की अपनी चेतना तो इसका बना प्रमाण है ही सही, कामोत्सव के समय राजकर्मचारियों की अनुपस्थिति और मैत्रेय का आकर चला जाना भी इसी तथ्य की ओर इंगित करते है।

इन दो पात्रों के अतिरिक्त हमारे विचार में दो और पात्र भी पूर्णतया ऐतिहासिक है। वे है - नंद की रूपगर्विता पत्नी सुंदरी और भिक्षु आनंद। सम्भव है कि सौन्दरानंद में नंद पत्नी का नाम सुंदरी कल्पित किया गया हो, पर उसकी स्थिति तथा अस्तित्व से तो कतई इन्कार नहीं किया जा सका। क्योंकि नंद की विलासिता का मुख्य आधार मदिरा से उन्मत कर देने वाले रूप एवं यौवन की स्वामिनी उनकी पत्नी ही थी। नंद को दीक्षित होने से पूर्व उसके प्रेम-पाश से मुक्त होने के लिए अत्यधिक मानसिक यातना भोगनी पड़ी थी। इसी प्रकार भिक्षु आनंद भी ऐतिहासिक पात्र है। गौतम बुद्व के प्रमुख शिष्यों के रूप में उसका नाम और चरित्र आदि सभी प्रकार के इतिहासों में उपलब्ध होते है । यदि गौतम बुद्व का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है तो भिक्षु आनंद के व्यक्तित्व को कभी भी अनैतिकता नहीं कहा जा सकता। उसे बुद्व से अलग किया ही नहीं जा सकता। हॉ यह कल्पना हो सकती है कि राजकुमार नंद के प्रसंग में उसकी योजना सौन्दरानंद के रचयिता अश्वघोष या 'लहरों के राजहंस' के लेखक मोहन राकेश की कल्पना का ही परिणाम हो, परंतु उसकी ऐतिहासिकता तो असन्दिग्ध है।

शेष पात्र- अलका, नीहारिका, श्वेतांग, श्यामांग आदि सभी - आर्य मैत्रेय भी पूर्णतया कल्पित कहे जा सकते है। कुछ पात्रों को अनुमानाश्रित भी माना जा सकता है , पर है ही कुल कितने पात्र? किन्तु वे सब नाटक के रूप विधान में कुछ इस प्रकार घुल-मिल गये है कि उन्हे मात्र कल्पित या अनुमानाश्रित ही नहीं कहा जा सकता। वे साहित्यिक सत्य बनकर ही हमारे सामने आते ह। नाटक में से उनकी किसी भी प्रक्रिया है का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। सभी का नाटकीय-परिवेश में प्रत्यक्ष महत्व है। कथा-विस्तार और विकास में पूर्ण सहयोग है।

वतावरण एवं नाटकीय विधान की ऐतिहासिकता :- इस दृष्टि से भी 'लहरों के राजहंस' नाटक में अनेक ऐतिहासिक तत्वों की रक्षा हुई है। नाटक में वर्णित समूचा वातावरण तत्संबंधित निर्देशित रंग-संकेत आदि पूर्ण रूपेण इतिहास सम्मत है। यहां तक कि जिस प्रकार के नंद सुंदरी कथा एवं उसकी रूप की चर्चा की गई है, मदिरा पात्रों एवं मदिराओं का वर्णन है, दीपाधार आदि की योजनाए हुई है। महल कक्ष के गवाक्ष द्वार आदि चित्रित किये गये है, उद्यान एवं उसके कमलताल का व्यौरा है- वे सब ऐतिहासिक पर्यवेक्षण एवं वर्णन ही है। इसी प्रकार नंद सुंदरी तथा अन्य पात्रों की वेश-भूषा में भी ऐतिहासिक परिवेश पूर्णतः सफलता के साथ चित्रित किया गया है। नाटकीय चित्र-विधान एवं योजना में भी ऐतिहासिक परिपार्श्व खरा उतरा है। यहां नाटककार इतिहास के समग्र रंग प्रस्तुत करने में पूर्णतया सफल कहा जायेगा।

इसी प्रकार संवादों एवं योजनाओं में जिस प्रकार की भाषा एवं शब्दावली का प्रयोग किया गया है, वहां भी इतिहास का परिप्रेक्ष्य विद्यमान है। जैसे विशेषक, दीपाधार, आपातक, गवाक्ष, कक्ष, उद्यान, कमलताल, मत्स्याकार आसन, श्रृंगार कोष्ठ, मदिरा कोष्ठ आदि । कल्पित पात्रों के नामों में भी पूर्णतया ऐतिहासिकता है। जैसे - श्वेतांग, श्यामांग, आर्य मैत्रेय, अलका, नीहारिका आदि। 'प्रत्युष' जैसे शब्द भी ऐतिहासिक ही है। इस प्रकार कहा जा सकता है। कि 'लहरों के राजहंस ' के वातावरण एवं नाटकीय विधान में ऐतिहासिकता की पूर्णतया रक्षा हुई है। पर यहां भी ध्यातव्य तथ्य यह है कि नाटकीय व्यापार की चेतना के समान आत्मा यहां भी आधुनिक ही है। ऐतिहासिक परिवश

में , वातावरण और नाटकीय व्यापार में नाटककार ने बड़ी सूक्ष्म कुशलता से आज की आत्मा को सजाया संवारा है। एक उदाहरण लिया जा सकता है। वह है शराबों के मिश्रण की बात, जो कि आज की कॉक्टेल, पार्टियों का स्मरण करा देती है।

उपलब्ध सामग्रियों के आधार की ऐतिहासिकता:- नाटककार मोहन राकेश ने नाटकीय वस्तु योजना के प्रिय जिन आधारों एवं सामग्रियों का उपयोग किया है। उनमें से अनेक की प्रामाणिकता केवल विभिन्न विद्वान ही नहीं, बल्कि स्वयं नाटककार भी संदिग्ध मानता है। इस नाटक के मूल कथ्य एवं वस्तु का विकास प्रधानत: महाकवि अश्वघोष की दो सर्जनाओं पर आधारित है। वे सर्जनाएँ है- 'बुद्ध चरित्र' और 'सौन्दरानंद'। इनमें से अधिकांश विद्वान 'सौन्दरानंद' को प्रामाणिक सर्जना नहीं स्वीकारते। उसमें कल्पना का मिश्रण और पूर्ववर्ती उपलब्ध रचनाओं से आगे बढ़ने की बात नाटककार मोहन राकेश ने भी भूमिका में स्वीकार की है। 'सौन्दरानंद' की अप्रामाणिकता का प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि इस जैसी प्रणय कथा के अवशेष अन्य उपलब्ध रचनाओं में सुलभ नहीं है। इसी प्रकार नंद के दीक्षित होने की कथा 'बुद्ध चरित्र' में उपलब्ध होती है। दीक्षा की उस कथा का आधार पालिसाहित्य में प्राप्त होता हे। 'उदान' जातक और धम्मपद' के श्लोक संख्या 13-14 में 'वर्णित कथा' में नंद की कथा का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु पालि के इन ग्रंथों में उल्लिखित नंद कथा और अश्वघोष के 'सौन्दरानंद' में वर्णित नंद कथा में पर्याप्त अंतर है। अत: निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'सौन्दरानंद' भी कल्पित है और उसकी बहुत कुछ सामग्री कवि द्वारा अपेक्षित ही है।

इसी प्रकारर 'धम्मपद' की टीका में नंद एवं सुंदरी की कथा का वर्णन जिस प्रकार से उपलब्ध है, प्रभाव एवं विस्तार की दृष्टि से 'सौन्दरानंद' उससे कहीं आगे है- बहुत आगे है 'सौन्दरानंद' के तथ्य उपलब्ध अन्य ऐतिहासिक सामग्रियों के तथ्यों से भिन्न है। शोध ग्रन्थों ने भी नंद सुंदरी के संबंध में किसी प्रकार के प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत नहीं किये। इसी प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध कथा-स्त्रोतों और पालि आदि प्राकृतों के कथा स्त्रोंतों में भी काफी भिन्नता है। अत: किसी भी दृष्टि से 'सौन्दरानंद' के मूलाधार पर रचे गये 'लहरों के राजहंस' नाटक की आधार-सामग्रियों को पूर्णत: ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता इसी कारण नाटककार ने स्वयं भी इस अनैतिहासिकता को स्वीकार कर इतिहास और साहित्यिक अंतर को भूमिका में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नाटककार का यह मानकर चलना है कि साहित्यकार का दायित्व उतना इतिहास के प्रति नहीं होता, जितना कि जीवन के चिरन्तन सत्यों एवं शाश्वत मूल्यों के प्रति होता है ।

घटनाओं की ऐतिहासिकता :- घटना चित्रण की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' की घटनावली में ऐतिहासिकता केवल इतनी ही है कि कपिलवस्तु का राजकुमार और गौतम बुद्ध का सौतेला भाई नंद अपनी रूपगर्विता पत्नी के रूप यौवन पर अत्यधिक आसक्त था। फिर भी अन्तोगत्वा उसने बुद्ध मत से प्रभावित होकर इस मत में दीक्षा ग्रहण कर ली। इतिहास में तो यहां तक आता है कि अन्त में महाराजा शु)ोधन (बुद्ध के पिता) का समूचा वंश, उनकी पत्नी और पौत्र (बुद्ध का बेटा राहुल) तक दीक्षित हो गये थे। इन्हीं में बुद्ध का भाई नंद भी था। काफी दिनों तक वह बुद्ध के प्रभाव को बढते हुए निहारता रहा, उधर पत्नी के रूप-प्रेम का प्रभाव भी उस पर बढ़ता गया। अंत में बौ) मत मी पय-पूर-पयस्विनी ने उनके मन के विलास भावं को सर्वथा धो डाला और वह दीक्षित हो गया। पत्नी का रूप-जाल उसे बान्धे न रख सका। बस, इतने से ऐतिहासिक संदर्भ को ही यहाँ युगानुकूल अन्तर्द्वन्द्व के परिवेश में विस्तार दिया गया है।

उपर दी गई घटना के अतिरिक्त 'लहरों के राजहंस' में शेष सभी कुछ कल्पित है। श्यामांग का प्रसंग, कामोत्सव का आयोजन, कमल-ताल के हंसों का उड़ जाना, रूप-गर्विता सुंदरी का श्रृंगार-प्रसाधन, विशेषक बनाना और उसका सूखना, दर्पण का टूटना, हिरण के घायल होने की घटना, केश-कर्तन के बाद नंद का जंगल की ओर हिरण को देखने जाना और वहाँ बाघ से द्वंद्वयुद्व, दीक्षा के पश्चात नंद का अपने भवन में लौटकर आना और सुंदरी के सूखे विशेषक को गीला करने का प्रयत्न आदि सभी बाते पूर्णतया नाटककार की अपनी सम्भावित कल्पनाएँ हैं! पर ये सब इतिहास केत्रेम में पूर्णतया फिट करके जड़ी गई है। अत: इनकी अनैतिहासिकता में भी सम्भावित ऐतिहासिकता से इनकार नहीं किया जा सकता। पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार के आयोजन अनिवार्य हो जाते है। फिर नाटक साहित्य है, इतिहास नहीं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'लहरों के राजहंस' नाटक उसी सीमा तक ऐतिहासिक है, जिस सीमा तक साहित्य इतिहास की पचा सकता है, उसे सजा-सँवार कर युगीन एवं युगों-युगों की मानवीयता को सजा-संवार सकता है। इसी कारण विद्वान स्वीकारतें है कि 'ऐतिहासिक नाटकों में कथानक की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता का रचनात्मक दृष्टि से कोई अर्थ नहीं होता। वास्तव में ऐतिहासिकता कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी हो सकती है।, जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों कथा-स्थितियों को 'अनैतिहासिक' और युगीन बना दे तथा कथा के अन्तर्द्वन्द्व को आधुनिक व्यंजना और अर्थ प्रदान कर।' नाटक-साहित्य में पूर्ण ऐतिहासिकता का आग्रह किसी भी दृष्टि से उचित एवं युक्ति संगत नहीं माना जा सकता। इसे स्वस्थ परम्परा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हिन्दी ऐतिहासिक -नाटकों में प्राय: नाटकीय कथानकों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर अधिक आग्रह भाव रहता है, उसी कारण यहाँ के प्राय: ऐतिहासिक नाटक इतिहास का नाटकीकरण-सा प्रतीत होते है। जहाँ ऐसा आग्रह नहीं रहा, वहीं वास्तविक नाटकीयता आ पाई है। और ऐसे नाटक ही वास्तव में साहित्य की अमर निधि बन पाये हैं।

कथ्य एवं घटना-कम का चयन कहीं से भी क्यों न किया जाय, उसमें युगीन संदर्भो का रहना अनिवार्य होता है। अपने परिवेश से कट या उखड़ कर कोई भी सर्जक सर्जनात्मक प्रक्रिया में सफल एवं सबल हो ही नहीं सकता। इसी कारण सशक्त नाटककारों ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में भी मात्र इतिहास को ही नहीं दोहराया, बल्कि उन्हें पूर्णत: युगीन संदर्भ एवं परिवेश प्रदान किया है। प्रसाद जी के नाटक इस बात के सबल प्रमाण है। लक्ष्मी नारायण मिश्र जैसें समस्या नाटककारों नें भी अपने ऐतिहासिक नाटको में यही किया है। उदयशंकरर भट्ट और हरि कृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटक भी इसी कारण ग्राह्य एवं सम्मान्य है- और मोहन राकेश ने भी 'आषाढ़ का एक दिन' के समान अपने इस ऐतिहासिक नाटक 'लहरों के राजहंस' में इस परम्परा को ढंग से निभाया है। इसी संदर्भ में 'लहरों के राजहंस' की ऐतिहासिकता प्रशस्य हो सकती है।

अंत में हम डॉ. सुरेश अवस्थी की निम्न उक्ति के साथ इस प्रश्न का उपसंहार करना चाहते है कि - 'सभी देशों के नाटक-साहित्य के इतिहास में विभिन्न युगों में जब भी श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है, तब नाटककारो ने प्राचीन कथानकों को नई दृष्टि से देखा है और उनकों नई अर्थ-व्यंजनाएँ दी है। - चाहे ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व लिखी गई महान यूनानी भासदियाँ हों, चाहे एलिजाबेथ-कालिन कामदियाँ और चाहे फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड और अमेरिका में पिछले दस-पन्द्रह वर्षो में लिखे गये नई शैली के ऐतिहासिक नाटक।''

इसी दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' की ऐतिहासिकता भी सफल एवं सम्पन्न कही जा सकती है। उसमें कल्पना

का उचित एवं युगीन समावेश हुआ है। अत: एक वाक्य में उसे कल्पना प्रधान ऐतिहासिक रोमाँस कहना अधिक युक्ति संगत है।

36.3 अभ्यास के प्रश्न

1. लहरों के राजहंस की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालिए ।

लहरों का राजहंस - रंगमंचीयता

पाठ-संरचना

37.0 उद्देश्य
37.1 परिचय
37.2 अभिनेयता
37.3 अभ्यास के प्रश्न

37.0 उद्देश्य

हिन्दी रंगमंच का विकास रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, कठपुतली के नृत्य आदि द्वारा हुआ है। इसमें रंगमंच की सम्पूर्णता तो होती नहीं है, पर रंगमंच का लघु स्वरूप अवश्य देखने को मिलती है। इनमें संगीत की अधिकता तथा संवादों में कथानक की प्रधानता ही अधिक देखने को मिलता है। अपनी मूल सर्जनात्मक प्रक्रिया, उद्देश्य एवं स्वरूप विधान की दृष्टि से नाटक वास्तव में दृश्यकाव्य के नाम से अभिहित किया गया है। क्योंकि दृश्यमयता उसका अनिवार्य तत्व है। दृश्यमयता या दृश्य-काव्यत्व की सार्थकता उसकी रंगमंचीयता में ही है। इस इकाई का उद्देश्य लहरों के राजहंस के रंगमंचीयता से पाठकों को परिचय कराना है।

37.1 परिचय

नाटककार की रंगमंचीय जानकारी और सूझ-बूझ का प्रमाण यह है कि दृश्य -बंध-योजना एवं सजावट में वह न केवल देशकाल एवं सौन्दर्य-बोध का परिचय देता है अपितु मंच पर रखी गई प्रत्येक वस्तु का पात्र - स्थिति के अनुकूल नाटकीय प्रयोग करना भी नहीं भूलता। दीपाधारों का उपयोग नाटक में नौ स्थानों पर किया गया हैं। पहले अंक के अंत में मैत्रेयी के प्रस्थान के बाद नंद का पुरूष दीपाधार की ओर एकटक देखना नंद के अंत:करण को, उसकी कामना और विवशता को एक क्षण मं उद्‌भासित कर देता है। इसी प्रकार नाटककार ने 'लहरों के राजहंस' में दाराकोष्ठ, श्रृंगार-कोष्ठ, मत्स्याकार आसन, झूले और चबूतरे का कमश: 11,15,7,15, और 7 बार उपयोग करवाया है। मंच के उपकरणों का इतना सुचिति सार्थक और नाटकीय उपयोग हमें हिन्दी के कम ही नाटको में देखने को मिलता है। यह सर्वमान्य परम्परा है कि प्राचीन भारत में नाटकों की सर्जना अभिनय के लिए होती थी

इस तथ्य का सर्वाधिक सबल प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त 'नाट्य-शास्त्र जैसे ग्रन्थो की रचना उसमें नाटक का रूपक के समस्त अंगों की मुख्यत: अभिनय की दृष्टि से विस्तृत विवेचना भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। इससे

भी बढ़कर प्राचीन संस्कृत नाट्य-ग्रन्थों में त्रिकोण, चतुष्कोण, षड्कोण, गहन, प्रलम्ब आदि रंगमंचों की व्यवस्था का भी व्यापक विधान मिलता है। रंगस्थल, नेपथ्य, दर्शकदीर्घा, साज-सज्जा-भवन (आधुनिक Green Room)आदि का भी वहाँ विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। ये समस्त बातें इस बात की स्पष्ट घोतक है कि तब नाटको का प्रणयन रंगमंच का अभिनय के लिए ही हुआ करता था। अत: उपलब्ध रंगमंच की सुविधाओं को घ्यान में रखकर ही नाटककार नाटक रचते होगें। आज जो संस्कृत के नाटक उपलब्ध है, उनके अध्ययन से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि तब भारतीय रंगमंच की व्यवस्था अत्यधिक व्यापक एवं सर्वाङ्गीन रही होगी। क्योंकि संस्कृत नाटकों में अनेक अंक और उनके अन्तर्गत अनेक दृश्य, विष्कम्भक आदि उपदृश्य भी रहते है। इन सबका समग्र प्रदर्शन रंगमंच पर अवश्य किया जाता होगा। नहीं तो इन सब की सर्जन का प्रयोजन ही क्या था। सजग कलाकार केवल लिखने के लिए नहीं लिखा करता। क्योंकि संस्कृत के अनेक नाटकों की सृजन-प्रक्रिया में शास्त्रीय मान्यताओं के विरू)ाचरण का भाव भी देखा जा सकता है। उसे हम सामयिक रंगमंच या उसके प्रति दृष्टिकोण की विभिन्नता की प्रक्रिया या प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर हा जा सकता है कि प्राचीन भारत में दृश्य-काव्य-नाटक के अभिनय के लिए रंगमंच की उचित व्यवस्था थी और नाटको का नियमित अभिनय भी होता था।

प्राकृतों के काल में जहाँ नाटकों की सर्जना घटती गई, वहाँ रंगमंच का भी कमश: ह्रास होता गया। उसके बाद जब विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आने लगे, तो दृश्य-काव्य या नाटक शायद उनकी जातीय या साम्प्रदायिक मान्यताओं के प्रतिकूल पड़ता था। अत: नाट्य-रचना के साथ-साथ नाट्याभिनय का भी ह्रास होते-होते एक बार तो पूर्णतया अन्त हो गया। रंगमंच का तो नाम ही मिट गयी, फिर अभिनय का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। राम-लीला या वीर-काव्यों के सामान्य अभिनय की परम्परा तो अपने टूटे-फूटे रूप में चलती रहीं, किन्तु रंगमंच का सर्वथा अभाव हो गया। आधुनिक काल में आकर एक बार फिर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे कुछ चिन्तकों एवं सर्जकों का घ्यान इस ओर गया। उन्होंने नाटक-रचना, रंगमंच और उनके अभिनय की परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें कहाँ तक फलता मिली, यह हम सब के सामने है। वह यह कि वे प्रयत्न कुछ मण्डलियों की स्थापना तक ही सीमित रह गया। पारसी थियेट्रीकलें-कम्पनियों ने इस दिशा में एक बार और प्रयत्न किया किन्तु वहाँ न तो सुरूचि सम्पन्नता ही थी और न स्वाभाविकता ही। द्विवेदी जी का युग इस दृष्टि से यों ही बीत गया। प्रसाद जी के युग में नये काव्यात्मक नाट्य-शिल्प का प्रयोग तो हुआ, किन्तु अभिनय के सम्भावनाओं को प्राय: घ्यान नहीं रखा गया। प्रसादजी के नाटकों के अभिनय के संबंध में हम उपर कह चुके हैं।

वास्तव में स्वतन्त्रता के बाद ही एक बार फिर हमारा घ्यान रंगमंच की ओर गया, वह भी विगत पन्द्रह-सतरह वर्षो के भीतर। परिणाम स्वरूप आधुनिक परिवेश में रंगमंच की सर्जना होने लगी। फिल्मों की कृत्रिमता से उबकर कलाकारों और दर्शकों दोनों का घ्यान नाटकों के स्वाभाविक अभिनय की ओर गया। इस स्वाभाविक अभिनय-कला को पुनर्जीवित करने का अनवरत प्रयास होने लगा। परिणाम स्वरूप आज का रंगमंच निश्चय ही हमारी महान उपलब्धि हैं आज के रंगमंच पर अनेक भाषाओं के नाटक अभिनीत किये जाते है और सामान्य जनों की रूचि भी नाटक-दर्शन की ओर कमश: परिवर्तित होती जा रही है। सबसे बढ़कर प्रसन्नता की बात तो यह है कि आज का नाटककार प्राचीन संस्कृत नाटक-काल के सामने ही रंगमंच की आवश्यकताओं और सम्भावनाओं को घ्यान में रखकर नाटकों की रचना कर रहा है। इससे नाटक-साहित्य के विकास और रंगमंच के और अधिक विकास की सम्भावनाएँ भी बहुत बढ़ गई है।

हमारे आलोच्य नाटक 'लहरों के राजहंस' के लेखक हिन्दी के क्षेत्र में कुछ उंगलियों पर गिने जा सकने वाले उन आधुनिक नाटककारों में है, जो रंगमंच एवं अभिनय की समस्त सम्भावनाओं को घ्यान में रखकर सफल नाटक रच रहे हैं । इसी कारण 'लहरों के राजहंस' नामक नाटक मोहन राकेश की प्रथम सर्जना 'आषाढ़ का एक दिन' के समान अभिनय की समस्त सम्भावनाओं से सम्पन्न है। इसी कारण आज तक अनेक बार इसका अभिनय सम्पन्न भी हो चुका है। यह नाटक प्रकाशित होने के प्रथम वर्ष श्री श्यामानन्दन जालान के निर्देशन में प्रयाग-रंगमंच पर खेला गया था और उसके बाद 'अनामिका' द्वारा कलकत्ता में इसका अभिनय किया गया, तत्पश्चात ओम् शिवपुरी के निर्देशन में नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' के बैनट पर दिल्ली में भी इसका सफल अभिनय हुआ। अन्य कई रंगमंचों पर भी विगत दिनों इसे सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

37.2 अभिनेयता

स्वरूप - विधान की दृष्टि से मोहन राकेश ने 'लहरो के राजहंस' की रचना करते समय आधुनिक रंगमंच की सभी दृष्टियों से अपने घ्यान में रखा है। सबसे पहली बात तो यह है कि नाटककार ने 'लहरों के राजहंस' में आधुनिक समस्या-नाटकों या यथार्थवादी-नाट्य-रचना पद्धति के स्वरूप-विधान में कथानक को तीन ही अंकों में विभाजित किया है। अंक विभाजन के मूल में नाटकीय-विधान के तीन संचरणों का - 1. आरम्भ 2. विकास और 3. चरम परिणति का क्रमशः घ्यान रखा गया है। फिर तीन अंक रहते हुए भी दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं रहती। तीनों अंकों में आद्यन्त मूल दृश्य एक ही है। एक ही दृश्य में चरम परिणति या कार्यान्विति दर्शायी गई है। इस संबंध में 'भूमिका' में डॉ. सुरेश अवस्थी कहते है:

'लहरों के राजहंस' आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-रचना- पद्धति पर लिखा गया है और उसमें उसी पद्धति के व्यवहारों और रूढ़ियों का पालन किया गया है। एक ही दृश्यबन्ध (Set) पर नाटकीय कथा घटित होती है, और कथा का विभाजन तीन अंकों में किया गया है, अंकों को दृश्यों में नही विभाजित किया गया। यथार्थवादी नाटय-रचना-पद्धति में एक दृश्यबन्ध और तीन अंकों वाले नाटकों का विकास आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रदर्शन की परिस्थितियों तथा साधनों के कारण हुआ है। और उसके पिछे एक शिल्पगत अनिवार्यता है।

वह अनिवार्यता वास्तव में उपलब्ध रंगमंच की परिस्थिति एवं स्वरूप ही है। दृश्य बदलने की कठिनाई से बचना और व्यावहारिक दृष्टि से इस अस्वाभाविकता से बचना भी इस अनिवार्यता का एक कारण है। इसीलिये 'लहरो के राजहंस' के लेखक ने सुन्दरी के कक्ष को ही मुख्य दृश्य बनाकर समूची घटनाओं एवं क्रिया-कलापों को चित्रित किया है। यहाँ रंगमंच की अनिवार्यता का निर्वाह स्वभावतः हो गया है।

एक ही दृश्यबन्ध की स्वाभाविकता को बनाये रखने के लिये नाटककार ने स्थान-स्थान पर रंग-संकेत दिये हैं, जिनसे उचित मंच-सज्जा सहज एवं स्वाभाविक हो जाती है। फिर यहाँ रंगमंच की सज्जा और दृश्य-विधान किसी भी प्रकार से जटिल नहीं है, बल्कि अत्यन्त सहज एवं सीधी-सादी है। ऐसा करने के लिये नाटककार ने रंग और प्रकाश के साथ-साथ पार्श्व-सँगीत-स्वरों से भी सहायता ली है। इसी कारण पात्रों की मनोदशाओं के अनुकूल ही रंग-संकेत, ध्वनि-योजना, जैसे-कमलताल के हंसों का स्वर और पंखों की फड़-फड़ाहट आदि के संकेत! इसी प्रकार भिक्षुओं के स्वर, प्रत्युप-सूचक-शंख-ध्वनि, पग-चाप आदि की योजना भी विशेष प्रयोजनीय है और रंगमंच के विधान की दृष्टियों के उचित भी।

स्थान के समान 'लहरों के राजहंस' में 'समय की एकता' या अन्विति का भी समग्रत: ध्यान रखा है। यहाँ समय का विस्तार नहीं है। सभी कुछ थोड़े ही समय- अर्थात केवल दो रातो में ही सिमटकर घटित हो जाता है। इतने लम्बे कार्य व्यापार को इतनी कम सीमा में समेटना लेखक की कुशलता का परिचायक है। नाटक के अभिनेयता के तत्वों को इससे विशेष बल और प्रभाव प्राप्त हुआ है।

स्थान, समय की एकता या एकान्विति के समान कार्य अथवा व्यापार की एकता-एकान्विति का ध्यान तो यहां रखा ही गया है। वास्तव में एक ही 'क्षण-बोध' व्यापक होकर सारे नाटकीय व्यापार पर छाया हुआ है। वह क्षण-बोध है प्रवृति एंव निवृति में ग्रसित चेतना में से एक का चयन । यद्यपि यहां स्पष्टत: एक का चयन नहीं होता, पर एकान्विति तो होती है। अत: कहा जा सकता है कि नाटककार ने कार्यान्विति का भी समग्रत: ध्यान रखा है, कि जो रंगमंच एंव अभिनेय की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सीमित वस्तु-योजना, स्थान समय कार्य की योजना के समान नाटक में पात्र भी सीमित ही है। अत: उसका अभिनय स्वाभाविक एंव अवाध चलता है। उनका चरित्र-चित्रण भी स्वभावत: ही चलता है। पात्रों की संख्या कम होने के कारण दर्शक का ध्यान बटता नहीं। उनकी चेतना एकाग्र भाव से उन ही पात्रों तक सीमित रहती है, अत: वे लोग उनको समझने-बूझने में किसी भी प्रकार की दिक्कत नहीं करते। उस पर पात्रों की वेश-भूषा का भी कोई विशेष झंझट नहीं है। वेष-भूषा के परिवर्तन की प्राय: कहीं आवश्यकता महसूस नहीं होती। हाँ यह बात अवश्य है कि वेष-भूषा में ऐतिहासिकताा का ध्यान रखना अनिवार्य है। पर यह अनिवार्यता एक ही बार केवल आरम्भ में ही ध्यातव्य है, बाद में वहीं वेष-भूषा अन्त तक बना रहता है। इस दृष्टि से भी अभिनय में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं आ सकती।

कई बार भाषा भी रंगमंचीयता एवं अभनेयता में बाधक बना करती है। प्रसाद जी के नाटकों में अनेक दिक्कतों के साथ-साथ भाषा की दिक्कत भी है। भाषा का अलंकरण, लाक्षणिकता या व्यंजना, प)ति सर्व-सामान्य के लिये बोधगम्य नहीं हुआ करती। इस दृष्टि से यहां कोई बाधा नहीं। 'लहरों के राजहंस' की भाषा सामान्यत: सरल, चलती, प्रवाहमयी, प्रसाद गुण से सम्पन्न एवं चित्रात्मक है। ऐतिहासिक परिवेश रहते हुए भी भाषा में दुरूहता नहीं। कुछ एक ऐतिहासिक शब्द अवश्य है- जैसे विशेषक, आपानक आदि। पर नाटकीय व्यापार एवं भाव भंगिमा से इनकी सहज ही समझा जा सकता है। नाटककार ने भाषा की दृष्टि से सरसता रोचकता और रंगमंच के सब प्रकार के दर्शक का पूरा ध्यान रखा है। भाषा पर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट है। कुल मिलाकर भाषा रंगमंच एवं अभिनय के सर्वथा उपयुक्त है।

दर्शक की सुरूचि एवं उत्सुकता को बनाये रखने के लिये सामान्यतया नाटक में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हैं। आरंभ में 'कामोत्सव' की तैयारी, उसके लिये उत्सुकता और वहां प्रयुक्त रोचक-रंगीली शब्दावली दर्शक की रूचि एवं उत्सुकता के प्रवृत्ति में विशेष सहायक होती है। इसके साथ-साथ सांकेतिक एवं प्रत्यक्ष प्रेम-प्रसंगों की योजना भी सामान्य दर्शक को आकर्षित किये रहती है। भावावेष के भी अनेक क्षण विद्यमान है, जो प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से निश्चय ही महत्वपूर्ण है। श्यामांग का ज्वरग्रस्त प्रलाप, कुछ आश्चर्य प्रद होते हुए भी दर्शक की रूचि एंव उत्सुकता प्रर्वतक है। फिर 'आश्चर्यप्रद' वस्तु भी तो रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रयोग हो सकता है।

इस विवेचन के आधार पर सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि अभिनय की दृष्टि से 'लहरो के राजहंस'

मोहन राकेश की एक सर्वांडिंन् सफल सर्जना है। इतना होते हुए भी नाटक की भूमिका-लेखक डॉ. सुरेश अवस्थी में अपनी भूमिका में अभिनय के प्रभाव की दृष्टि से कुछ आक्षेप मूलक प्रश्न उठाए हैं। उनके अनुसार नाटक के दो प्रसंग ऐसे हैं, जो नाटकीय विधान एवं अभिनेयता को दुर्बल बनाते है। श्यामांग प्रसंग के बारे में डॉ. सुरेश अवस्थी लिखते है:

लेकिन श्यामांग प्रसंग नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होकर भी दर्शक की रूचि और नाटक के सहज प्रभाव में बाधक बनता है। इसका कारण यह है कि श्यामांग की चरित्रगत अवधारणा और उनके कार्यो ओर कथनों में मन्तव्य स्पष्ट नहीं हैं और ऐसा लगता है कि उसके संबंध में नाटककार दुविधाग्रस्त है।' अपने मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आलोचक महोदय आगे कहते हैं- 'आरंभ में लगता है कि श्यामांग और अलका का अत्यन्त सहज, कोमल और मौन पारस्परिक आकर्षक सुन्दरी और नन्द के उपाम, मुखर और कामसिक्त प्रेम का ही एक प्रतिरूप है। इस प्रकार यह प्रसंग एक निश्चित नाटकीय सिद्वि की चेष्टा करता हैं और फिर बाद में वही श्यामांग नंद के अस्थिर और द्वन्द्व जर्जर मन का एक प्रतिरूप बन जाता है... श्यामांग प्रतीक बनकर नाटकीय कथा के सीधे, स्पष्ट द्वन्द्व को केवल अस्पष्ट नहीं बनाता, बल्कि वह नाटक के वस्तु-विधान को भी कमजोर करता है। नेपथ्य से श्यामांग को स्वर का जिस प्रकार संगीत खण्डों के समान प्रयोग किया गया है, वह प्रदर्शन को भी कमजोर और कृत्रिम बना देता है।

डॉ. सुरेश अवस्थी के उपरोक्त मत के संबंध में हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उनकी अपनी ही धारणा विरोधाभास से युक्त हैं। जब वे आरम्भ में श्यामांग प्रसंग को सुन्दरी नन्द के उपाम प्रेम का प्रतीक मानते है, तो बाद में यदि नन्द की द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रतीक बन गया तो हानि ही क्या है? वास्तव में आरम्भ में भी श्यामांग नन्द की ही चेतना का प्रतीक है, सुन्दरी के लिये तो अलका अलग से है ही! फिर विशेष ध्यातव्य बात यह है श्यामांग का अलग से दिखाई देने वाला व्यक्तित्व वास्तव में नन्द के व्यक्तित्व में ही अन्तर्हित है और उसी का ही रूप है। इस पात्र के प्रयोग के द्वारा नाटककार रंगमंच पर दर्शक का कौतुहल जगाने एवं उत्सुकता व्याप्त रखने में निश्चय ही विशेष सफल हुआ है। यह ठीक है कि सामान्य दर्शक यह धारणा शीघ्र नहीं बना सकता कि श्यामांग नन्द के व्यक्तित्व का ही द्योतक है, फिर भी जब वह अवधारणा बन जाती है, तो स्वभावत: सफलता या अवरोध की धारणा का परिहार हो जाता है।

डॉ. सुरेश अवस्थी ने नन्द की दीक्षा की पद्धति को भी रंगमंचीय प्रभाव की दृष्टि से नाटकीय रूप-विधान की दुर्बल कड़ी माना है। क्योंकि दर्शक को अलका और श्वेतांग के संवादों में नन्द के भिक्षु बन जाने का पहले ही पता चल जाता है। अत: कटे-केशों में जब नन्द मंच पर आता हैं तो उसकी कोई तीव्र प्रतिक्रिया दर्शकों के मन में नहीं होती, जो कि अनिवार्यत: होना चाहिये। अत: उनका विचार है कि - 'नन्द का दीक्षित होना इस नाटकीय कथा की एक ऐसी घटना है जिसका रंगमंच पर पात्रों द्वारा प्रस्तुतीकरण आवश्यक है, भले ही उसका निर्वाह नाटककार और निर्देशक दोनों के लिये कठिन हो जाए, और भले ही उसके कारण स्थान-अन्विति खण्डित होती हो वास्तव में यही व्यापार-खण्ड इस कथा का चरम विन्दु है और इसी में कथा का मूल द्वन्द्व अपनी पूरी अभिव्यक्ति पाता है। उसका स्पष्टत: मत है कि नन्द दीक्षा की सूचना मात्र स्थान-अन्विति की दृष्टि से ही दी गई है।

इस संबंध में हम डॉ. सुरेश अवस्थी का ध्यान उनकी भूमिका की आरम्भिक पंक्तियों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। अपनी भूमिका आरम्भ करते हुए वे लिखते है - 'लहरो के राजहंस' में एक ऐसे कथानाक का नाटकीय पुनराख्यान किया गया है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शान्ति के पारस्परिक विरोध तथा उनके बीच खड़े

हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वन्द्व निहित है। इस द्वन्द्व का एक दूसरा पक्ष स्त्री और पुरूष के पारस्परिक संबंधों का अन्तर्विरोध हैं। जीवन के प्रेय और श्रेय के बीच एक कृत्रिम ओर आरोपित विरोध है, जिसके कारण व्यक्ति के लिये चुनाव कठिन हो जाता है... चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा-बीज और उसका केन्द्र बिन्दु है।' इस दृष्टि से यहाँ स्पष्टत: प्रश्न चुनाव का नहीं, चुनाव की यातना को चित्रित करने का है। नन्द की दीक्षा नाटककार के अनुसार एक बाधित चुनाव है, अत: उसकी सूचना मात्र ही पयमें अभिव्यक्ति पाती है और यह अभिव्यक्ति स्पष्टत: रंगमंच पर ही होती है। अत: यहाँ उनकी आशंका का कोई स्पष्ट एंव पुष्ट आधार नहीं। हमारे विचार में नन्द का केश-कटा कर एकाएक रंगमंच पर प्रगट हो जाना अधिक प्रभावी एंव प्रतिक्रियात्मक है, ताकि वहाँ बैठकर केश कटवाना।

कुछ और आक्षेप भी आलोचक ने रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से आरोपित किये है। जैसे नन्द के साथ भिक्षु आनन्द का भी छायावत मंच पर आना। इसका औचित्य हमें भी दिखाई नहीं देता। यदि भिक्षु आनन्द न आता तो अच्छा रहता, पर यदि आ भी गया है, तो भी सामान्यतया उसकी उपस्थिति प्रभाव का कोई विशेष हानि नहीं पहुँचाती। इसी प्रकार नाटक के अन्त में नन्द का आकर भी सुन्दरी से न मिलना भी रंगमंच की दृष्टि से अप्रभावी बताया गया है। इस संबंध में डॉ. सुरेश अवस्थी कहते है:

फिर जिस प्रकार नाटक का अन्त होता है, उसमें नन्द और सुन्दरी का अन्तर्द्वन्द्व जैसे सहसा अपनी भूमि और अपना अर्थ खो देता है। और तब लगने लगता है कि पात्र अपनी परिस्थितियों और अपनी नियति से पूरी शक्ति और पूरी आस्था के साथ अन्त तक नहीं पड़ सके। इस प्रकार की अनुभूति नाटक के दर्शकों के लिये सबसे अधिक घातक सिद्ध हाती है।'

यहाँ भी रंगमंच की दृष्टि से हम आलोचक से मत-भेद रखते है। हमारा यह कथन है कि यदि नाटककार नन्द सुन्दरी को उस स्थिति से अपने सामने खड़ा कर देता तो निश्चय ही स्थिति अधिक हास्यापद हो जाती। तब दर्शक के पास अपने सोचने एवं कोई अवधारणा बनाने के लिये कुछ भी न रह जाता। उस स्थिति में निश्चैय ही दर्शक पर पड़ने वाले प्रभाव में भी दुर्बलता आ जाती, जिसकी अन्तिम परिणति में, वास्तव में रक्षा हो पाई है। इससे अभिनेयता में किसी भी प्रकार की रहस्य भावना का समावेश भी नहीं हुआ। नाटककार ने स्वयं इस संबंध में अपने वक्तव्य में एक पंक्ति दी है -'ऐसे किसी रहस्य का बीज नाटक में नहीं है, जो तीसरे अंक के अन्त में जाकर खुलता हों।' नाटककार को वास्तव में रहस्यमयता स्वीकार ही नहीं और यहाँ वह है भी नहीं।

निष्कर्षत:- कहा जा सकता है कि नाटककार का मूल उद्देश्य निर्णय कर पाने में असमर्थ द्वन्द्वग्रस्त चेतना को प्रस्तुत करना है। वह कोई परिणति अपना लक्ष्य नहीं मानता। द्वन्द्वग्रस्त चेतना का प्रदर्शन एवं उद्‌घाटन रंगमंच पर निश्चय ही सबल रूप में हुआ। जैसा कि हम उपर विवेचित कर चुके है, रंगमंच संबंधी अन्य समस्त अवधारणाएँ भी यहाँ विद्यमान हैं। भारतीय नाट्य परम्परा से कुछ हटकर ही नाटककार यहाँ चला है। उसने वर्ज्य समझे जाने वाले दृश्यों को भी यहाँ पर योजना की है। उनकी अभिनेयता में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं! अभिनय की समग्र सम्भावनाएं एंव सफलता का पुष्ट प्रमाण यह है कि 'लहरो के राजहंस' अनेक बार सफलता के साथ प्रभावी ढंग से रंगमंच पर अभिनीत हो चुका है। निश्चय ही मोहन राकेश ने अभिनय की दृष्टि से भारतीय और विशेषत: हिन्दी नाटक को नई गति- दिशा प्रदान की है।